

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

फतहसिंह,
एम० ए० डी० लिट



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

© फलहसिंह

प्रथम संस्करण

मई १९६७

मूल्य २० ७ ५०

प्रकाशक नगवन वसिन्धिगिण हाउस

‘सद्दलोक’ जवाहर नगर दिल्ली ७ ।

बिक्री-मंडू नई मंडूक दिल्ली ६

मूद्रक गाहदरा त्रिटिण प्रम म्दिया ३२ ।

अपनी
स्वस्तिमयी
जननी
के चरणों में
सश्रद्ध भगर्पित

दो शब्द

एधर हिन्दी में 'मौन्य' की चचा हान लगी है इस विषय पर दो चार शब्द भी निकल चुके हैं। प्रायः यह कहा जा रहा है कि अपने दग में कभी मौन्य पर विचार ही नहीं हुआ। कुछ लोग न पण्डितराज जगन्नाथ को अवश्य रमणीयता नाम से मौन्य का उल्लेखमात्र करने का श्रेय दिया है परन्तु अगले भारतीय वाङ्मय उनकी दृष्टि में मौन्य मीमांसा से सबथा गूँथ है। वस्तुतः यह पूर्ण मत्त नहीं है।

सौंदर्य विस्मयमान मनोविज्ञान एवं परामनोविज्ञान का विषय है और इन दोनों शास्त्रों की जितनी ऊँचाई इतना दग में हुई है वह अदभुत है। प्रागम्य और निगम, पण्डितगण तथा वैयाकरण दगण जन एवं बौद्ध दर्शन साहित्यशास्त्र और मगीतशास्त्र मूलिकता और चित्रकला—इन सभी की मीमांसा के मूल में मनाविज्ञान तथा परामनोविज्ञान की जा ऊँची जान-परम्परा निहित है उम पर थोड़ा विचार करने पर भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सौंदर्यशास्त्र जैसे किसी पृथक् शास्त्र का निर्माण न हान पर भी 'सौंदर्य-तत्त्व' की अच्छी मीमांसा हुई है।

इस प्रसंग में आश्चर्य का बात यह है कि इस विषय पर सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक चचा ऋग्वेद के काव्य में है। उस कथन पर लागू नाक भी मिक्रोडेग वयाकि वेद का प्रायः किसी आदिम और जगली जाति की निम्नस्तरीय कृति माना जाता है। खेद है कि डा० आनन्दकुमार स्वामी और महर्षि अरविन्द के वचनविषयक लेखों के बाद भी यह भ्रम बना हुआ है। अतः प्रस्तुत श्रेय में वेदिक प्रताका की व्याख्या करने दूँये यह बनलान का प्रयत्न किया गया है कि ऋग्वेद में ऊँ, मुँ, साम स्वास्ति आदि प्रतीकों के मूल में कैसी उच्चकाटि की सौंदर्य मीमांसा उपलब्ध होती है। इस विषय में ऋग्वेद का नवम मण्डल सर्वाधिक महत्त्व का है परन्तु वह एक स्वतंत्र श्रेय भारतीय सौंदर्यशास्त्र का मूलाधार का विषय है। आशा है प्रस्तुत श्रेय उमके ममभने के लिए भूमिका का काय करेगा। लेखक अगले प्रयत्न में कहीं तक सफन हुआ है यह तो पारखी विद्वान ही बतलायेंगे।

अनुक्रम

पूव पीठिका	(क—ठ)
१	
सौम्यानुसूति	१
२	
सौदय का निरूपण	६
३	
वदिक दृष्टि	२१
४	
वदिक मोम	३५
५	
पय मोम	५०
६	
रसा व म	६४
७	
कवि शीर काय	८५
८	
वन कुत्म शीर रस	१०७
९	
घान्त शीर मोम्य	१११

पूर्व पीठिका

जसा कि सवत् २००६ म लिखित 'वैदिक दशन मे सकेत किया गया था, ऋग्वेद म उत्कृष्ट सौन्दर्य मीमासा की सामग्री विद्यमान है। इसी दृष्टि से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूलाधार नामक ग्रंथ लिखा गया है। इस ग्रंथ का आकार बड़ा होने से, इसके प्रकाशन की व्यवस्था म समय लगेगा। अतः प्रस्तुत पुस्तक (जो स्वयं म पूरा है) उसी ग्रंथ की भूमिका क रूप म प्रस्तुत की जा रही है। इसका आधार मुख्यतः ऋग्वेद है अतः इसम प्रतिपादित मतों को प्रामाणिक बनाने क लिए वैदिक उद्धरण अथवा सदर्भ निर्देश आवश्यक हो गये हैं परन्तु जहा इससे वैदिक विद्वानों को पुस्तक म स्थापित मतों की परीक्षा करना सुगम होगा वहाँ माहित्य के साधारण विद्यार्थियों को इससे कुछ अनुविधा हो सकती है। इसलिए पुस्तक को अधिक सुबोध एवं उपयोगी बनाने के लिये, यहा पर पुस्तक की पृष्ठभूमि और स्थापना का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

वैदिक सौन्दर्यतत्त्व स्वस्ति या सोम

वेद म मौल्य-तत्त्व को स्वस्ति की सना दी गयी है अतः वेद मे मानव जीवन का सर्वोच्च तत्त्व स्वस्तिमान् होना है। स्वस्ति शब्द 'सु और अस्ति के योग से बना है। 'सु का अर्थ है सुन्दर और 'अस्ति' सत्ता का द्योतक है स्वस्ति का अर्थ है सत्य सुन्दर या सुन्दरमत्य। साधारणतया हम अस्ति का प्रयोग वर्तमान 'सत्ता के लिये करते हैं, परन्तु जो वर्तमान म है (अस्ति) वह अतीत म थी (आसीत्) या नहीं थी (नासीत्) और भविष्य म होगी (भविष्यति) या न होगी (न वा भविष्यति) अतः इसका बवल खण्ड सत्य ही कह सकते हैं और मानव मन द्वारा इसी को जानने का प्रयत्न किया जा सकता है। अखण्ड मत्ता एव है जो गणेश अनेक नामों से जाना जाता है (१,१६४-४६), परन्तु अखण्ड म भूत भविष्यत एव वर्तमान की खण्ड परिधियों से बाहर होने क कारण वह मन द्वारा (१,१७०,१) सबया अप्राप्य है। स्वस्ति अर्पण अर्पण और अखण्ड रूप म उत्तम ज्योति देव (१५०,१०) है जिस तक हम एक अर्थ उत्तर ज्योति को दत्त करने पहुँचते हैं यही हमारे व्यक्तित्व का

सूक्ष्मतम स्तर तथा सवितृ का श्रृष्ठ वरेण्य भाग (१० ३५,७) है जिस उपनिषद म आनन्दमय तथा ऋग्वेद और अथर्ववेद म हिरण्यय पुरूप कहा गया है। इसी का कभी कभी महत् ब्रह्म, उत्तम अमृतत्वम् (१ ३१ १) महत् नाम गुह्य (१०,५५ १) दबत्व नाम तथा महत् अक्षरम् (३ ५५,१) आदि नपुमकलिगीय सनायें दी गई हैं। इसी उत्तम अमृतत्व क लिय मातृव व्यासा (तत्प्राण) है और इसी को प्राय अथय पद अथवा स्ववती ज्योतिरभय स्वस्ति कहा जाता है। यह अव्यक्त होने म गुह्य, अपीच्य निष्प परात्पर भी है। यही परम अव्यक्त सत्य बृहत् स्व अतनिहित मूय अथवा अक्षर लोक है। यह जिन मातृ रूपा म यक्त हाता है उह वद म सप्तरश्मियाँ सप्त सि धु सप्त वाणी आदि नाम दिय गय हैं। यही सत्य तप जन मह स्व भुव तथा भु नामक लोक भी है।

अव्यक्त से व्यक्त

परम सत्यरूपी मूय हमार अव्यक्त आनन्दमय स्तर स जब यक्त होता है तो वह उपसर्कलिगी न रहकर पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मूय और सूर्या, वृषा और धेनु कश्यप और अदिति अथवा शक्तिमान् और शक्ति क रूप म परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दा म परम सत्य व्यक्त हात ही कवल सत्य न रहकर ऋत च सत्य च हो जाता है स्वस्ति अथ अस्ति एत्र भवति' म परिणत हो कर ऋतस्य प्रवाचन हा जाता है जिसका मनुष्य मनन करते हैं (१०,३५,८)। स्वस्ति की इसी द्वैतपूण अभिव्यक्ति को ऋग्वेद म मूय की वह सत्योक्ति (१० ३७,२) बतलाया गया है जा हमार भीतर विश्रुति एवगति मूर्त्योत्य एव प्राप (१० ३७ २ ३) अथवारनाम तथा मश्रियता (१०,३७,४) प्रदान करती है। इसी सत्योक्ति को मूय क वचन की भी सना दी गई है और यही वह उनीयमान मिश्रमह मूय है जिसका माश्वतदगन सभी जीवा (१०,३७ ७) के त्रिए अभीष्ट है क्योंकि यह बृहन तज पर आगेहन करता हुआ वह मूय है जो महान् ज्योति एत्र भास्वर मोदय को धारण किए हुए है (१० ३७ ८) , आनन्दमय स्तर की यह प्रथम अभिव्यक्ति हमार यत्तित्व क जिस स्तर पर होती है उस उपनिषद म विज्ञानमय कहा गया है। दूसरी अभिव्यक्ति का स्तर हमार मनोमय है। यही हमार दो जन्म हैं जिनम म पहल म द्विपद अभिव्यक्ति है और दूसर म चतुपद (१० ३७ ११) पहली द्विपदा वाक है, क्योंकि इसक बवल दा पर है आनन्दमयकांग का अव्यक्त पद और विज्ञानमय (कारणगरीर) का अद्वय्यक्त पद पर तु दूसरी चतुपदा वाक है क्योंकि इसक

उक्त दो पदों के अतिरिक्त दो अन्य पद, अर्थात् मनामय (सूक्ष्मशरीर) तथा स्थूलशरीर (प्राणमय अन्नमय) भी हैं। वाक (अभिव्यक्ति) के इन चार परिमित पदों में स आनन्दमय विज्ञानमय तथा मनोमय ये तीन तो गुहा में छिपे हैं, और चौथा स्थूल शरीर वाला ही पूर्णतया व्यक्त (११६४४५) है।

मनुष्य देह में आकाश, अंतरिक्ष और पृथिवी

मनुष्य का व्यक्तित्व अथवा पिण्ड बाह्य विश्व या ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप है। इसका मनामय सूक्ष्मशरीर 'ही और स्थूलशरीर का स्थूलतम भाग पृथिवी है, इन दोनों के बीच प्राणमय भाग अंतरिक्ष कहलाता है और मनोमय तथा आनन्दमय के बीच जो विज्ञानमय कारण शरीर है उस 'उरु अंतरिक्ष' की सत्ता दी गई है। वही 'उरु अंतरिक्ष में आनन्दमय का उत्तम ज्योति देव' मूल उत्तर ज्योति हाकर व्यक्त है—अखण्ड सत्य स्वस्ति को ऋत सत्य का रूप प्राप्त होता है। इसी का सुन्दर गानों में वर्णन करते हुये महर्षि अरविन्द ने लिखा है "इसी अतिमानस बहुत स्तर पर हमारी सत्ता का मूलभूत सत्य अपने सन्निय सत्य को एक परिपूर्ण एवं निर्दोष गति के रूप में बिना किसी प्रयत्न सघट्ट के स्वाभाविक ढंग से उडेल देता है। क्याकि इन ऊचाइया पर कोई विभाजन, चेतना और बल के बीच कोई भेद जान एवं सकल्प के बीच कोई अलगाव, हमारे अस्तित्व और उसकी चेट्टा के बीच कोई समन्वयहीनता नहीं है। वहाँ सब कुछ 'ऋजु' है और वहाँ अनाजव की तकनीक भी सभावना नहीं। समलिय वास्तविक सत्ता और बृहत्ता का यह स्तर ऋत (अर्थात् वस्तुओं की वास्तविक क्रिया) भी कहलाता है। यह ऋत गति, क्रिया अभिव्यक्ति का एक चरम सत्य सकल्प हृदय और जान का अचूक सत्य विचार वाणी और भावना का एक परिपूर्ण सत्य है। यह एक स्वयंभू सत्य, स्वतन्त्र नियम वस्तुजात की मूलभूत निर्व्य व्यवस्था है जिस अभी विभाजित एवं पाथक्यगील चेतना न स्पष्ट नहीं कर पाया। यह एक मूलभूत एक्य से हान वाली वह दिव्य एवं स्वयं प्रकाशित सारिलिप्टि है, जिसकी केवलतुच्छ आशिक, भग्न एवं विकृत खण्डना एवं विलिप्टि के रूप में हमारा धुन् अस्तित्व विश्रमान है। यह वैदिक उपासना का मूल प्रकाशकास्वग अदितिपुत्र मूल का शरीर है जिसके लिये पितर कामना करते हैं।"

अदिति और आदित्यो के दो युग

यह मूल रूपी सत्य या आत्मा जिस ज्योतिमयी शक्ति द्वारा अपने का व्यक्त करता है वही परा वाक या अदिति आदित्यो की माता है। ऊपर हमारे

जो दो जन्म बताये गये हैं वे ही त्रयण पूय या उत्तर युग तथा नव्य युग ह जिनमें वह आदित्यो को जन्म देती है—पूय युग (विज्ञानमय) में वह सप्त पुत्र (सात सूर्य) को रखती है और आठवें पुत्र को मनोमय से लेकर अन्नमय तक के मृत्यु लोक में रहने वाली प्रजापति के लिये लाती है—मृत्यु लोक से सम्बन्ध होने के कारण सम्भवतः यह मार्ताण्ड (१० ७२ ७ ६) कहलाता है। यह आठा आदित्य उसी सूर्य के आठ रूप हैं जो परम सत्य है और उक्त 'अन्नमय' कोण रूपी समुद्र में गूँ (१० ७२, ७) था और जो विज्ञानमय कोश में अपने उक्त सात अंशों का मानो सात विरण रूप में करके सप्तरश्मि सूर्य अथवा अगोह्य सूर्य हो जाता है। यह वस्तुतः सत्य के ऋत का मेल है, अतः सभी आदित्य या देव ऋतजात (३, ५४ १३, ५ ६१, १४ ७, ६६ १३) ऋतजात सत्य (४ ५१ ७) ऋतन (७ ३८ ८) अथवा ऋतवान (१ ७७, १ २ ४ ७) हैं यही ऋत मूल कम अणु है जो 'स्वादिष्टाधीति तथा विश्वदेव्य समुद्र' (१ ११०) कहलाता है जो अन्नक अर्थात् के रूप में विस्तार पाता है। यह प्रथम अणु इन्द्र का चित् अणु (६ ३०, ३) सविता का विकृत अणु (२ ३८ ६) अग्नि का 'अनुत्त्वण अणु (१० ५३ ६) अथवा अणु देवा का (७ २० १, ४० ४, ३५, १) अणु (कम) वस्तुतः मानसिक अथवा अतिमानसिक दिव्य कम है जसा कि उसके स्वादिष्टाधीति, चित् विश्वदेव्य समुद्र' आदि विशेषणों से स्पष्ट है। यह कम (अणु) हमारे भौतिक अस्तित्व के समस्त कमों का अनुस्यूत एकीकृत रूप है जिसको अनुस्यूत करनेवाली 'अच्छिद्यमाना सूची (२, २३ ४) वही अदिति वाक अथवा सत्यरूपी सूर्य की शक्ति सूर्या अथवा प्रथम उपा है इसी पूय अणु को 'गताय्य' वीर (२ २३ ४) कहते हैं क्योंकि यही नव्य युग में सबसे बड़ा वीरो (दिव्य कमों) में परिणत हो गकता है। यह अणु अपने एक रूप में गुप्त अग्नितत्त्व माना जाता है दूसरे रूप में वह सरम मोमत्त्व है और इस रूप में वह जलरूप अणु अथवा 'आप' कहलाता है जिसकी कल्पना 'अश्व रूप में की गई है। इन दोनों के समुत्तरूप में वही अणु इन्द्र-तत्त्व है जिसको गो भी कहा गया है। अणु के ये त्रिविधरूप आगम-परम्परा में त्रयण श्रिया इच्छा और

१ १० १, १६ १ १ ३, १३०, ३, ४ ३३, ७, ८, १८, ४, १०, ६४ ४

२ जल अणु में अणु 'राज्य' का स्वयं कल्प जाता है, परन्तु जेना २ पारस्परिक सम्बन्ध का महत्त्व १० २, १७ १ के अर्थात् अणु ६, ३०, ३ के नवीनायप में दर्शाया गया है।

पानगक्तियों है , वेद म उनके प्रतीक क्रमश वीर अश्व तथा गो हैं और उनके सदम में मत्य रूपी आत्मा को क्रमश अग्नि साम तथा इन्द्र कहा गया है ।

अदिति दिति और उपारात्रि

सूय रूपी मत्य आत्मा की सूर्या शक्ति के दो पक्ष हैं—एक प्रकाश और दूसरा अंधकार, एक उपा दूसरा रात्रि अतः मूयायुक्त सूय क भी दो पक्ष हो जात है एक गुबल ऐतग और दूसरा हरित । स्वस्ति सोम रूप आत्मा क भी सु एव अमु क आधार पर वेद म सुर और असुर या सुनीति एव असुनीति की कल्पना मितती है । अदिति और दिति तथा उनक पुत्र आन्वित्य और दत्य भी इसी प्रकार मूल सत्ता क दो पक्षो की शर सक्त करते हैं । इन दोना पक्षो का अविनाभाव सम्बन्ध है परन्तु जब प्रथम पक्ष का प्राधाय होता है तो दूसरा पक्ष अभिभूत हाकर रात्रि उपा म हरित ऐतग म, अमु सु म, असुर सुर म, अदव देव म, असुनीति सुनीत म दिति अदिति म और दत्य आन्वित्य म परिणत हाकर दृढातीत निरपन्न एव निष्कल सत्ता का उदय होना है , यही परम सत चरम सत्य, निगुण ब्रह्म या आत्मा उत्तम अमृतत्व, महत् देवत्व महत् अक्षरम् आदि नामों से वर्णित होता है । इमक विपरीत जब दूसरा पक्ष प्रथम का अभिभूत करने म समथ हाता है, ता उपा कृष्णरात्रि म, ऐतग कृष्ण हरित म, सु 'दुर असु' म सुर या दव अहि या वृत्र म, सुनीति 'निऋति असुनीति' म तथा अदिति और आदित्य क्रमश निनि और दैत्य म परिणत होकर प्रकाशात्मा मत्य क गुबल सूय को 'कृष्ण या मार्ताण्ड' बना देत है ।

मृत लोक और अमृत लोक

इम मार्ताण्ड क साम्राज्य म, हमारा आत्मा अमृत स मृत हो जाता है और हमारा व्यक्तित्व अमृतलोक स मृत लोक हा जाता है । अमृत आत्मा रूपी सत्य सूय क अस्त हो जाने पर, आप , गा, वीर अश्व आदि सब अंधकार म छिप जात हैं बवल अग्नि कुछ प्रकाश देता है परन्तु घूँघ्र स आवृत्त हाकर , सोम क विन्दु टपकत हैं परन्तु कृष्ण सोम होकर, क्योंकि अग्नि और साम क्रिया और इच्छा क बिना तो इस मृत्युलोक का भी अस्तित्व सम्भव नहीं । यह धार कृष्णा रात्रि जब उपा रात्रि म परिणत होती है और उपा कस 'मृत जीव (१ ११३, ८) का उत्प्रेरित और बोधित करती है विश्व जीव को आचरणाय जगाती हुई मनायु विश्वजीव को 'वाक' (१, ६२ ६) प्राप्त करती

है अथवा मृत जीव को 'पर अमु' के रूप में जीवित करती है तभी यह जीव मनुष्य बनकर अपने मंत्र, सूक्त धीति स्तुति आदि के साथ यज्ञ करने में समय यजमान हाकर देवा और देव-शक्तियों का आह्वान करता है और अतांगत्वा इन्द्रादि के जन्म द्वारा पुत्र का वध कराकर आप, स्वर्गा आदि का मुक्त कराता है और उत्तर ज्योति प्राप्त करके उत्तम ज्योति अथवा अमृतत्व या स्वस्ति का अधिकारी होता है ।

मनुष्य का स्वरूप—अतः मनुष्य दो तत्त्वों का सगम है—एक मत्स्य है, दूसरा अमत्स्य (१ १६४, ३०-३८), एक शरीर है, दूसरा जीव इनमें से एक को तो सब जानते हैं, परन्तु दूसरे का नहीं (१, १६४, ३८) । जीव और शरीर मिलकर एक एक (समान) हो गया है कि जीव शरीर को ही 'स्व' समझने लगा है इसी समझ (बुद्धि) को 'स्वधा' कहते हैं और इसी स्वधा से युक्त होकर जीव (१ १६४, ८) ऊर्ध्वगति या अधोगति का भागी होता है । जीव शरीर के प्रत्येक अंग प्रत्येक में स्व बुद्धि रखता है अतः स्वधा एक ही नहीं अनेक भी कही जा सकती है (१ १६४ ३०) इही स्वधाओं से युक्त होकर जीव काम करता है । हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में एक सारभूत शक्ति है वह अंग का 'रस' है । अंग के इन रसों (सारभूत शक्तियों) को 'अगिरस' कहा जाता है । हमारे शरीर के सभी अंग उसी अन्न से बने हैं जिस हम खाते पीते हैं । अन्न को 'ऋषे' में 'पितु' भी कहा जाता है सम्भवतः पितु के संबंध से ही अगिरस को 'पितर' भी कहा गया है पितरों का सम्बंध भी वद में स्वधा से है ।

अन्न से बना हुआ हाड मांस का शरीर हमारा अन्नमय स्तर है । अन्नमय के अंगों की सारभूत शक्तियाँ (जिन्हें ऊपर अगिरस या पितर कहा गया है) वस्तुतः हमारे प्राण हैं, अतः अन्नमय के कण कण में प्राप्त हमारा प्राणमय स्तर माना गया है । अन्नमय और प्राणमय स्तरों में मिलकर हमारा 'स्थूल शरीर' बना है । त्रिया प्रधान होने से, स्थूलशरीर में नाना प्रकार के 'जान भाव' मय काम होते रहते हैं, जिन्हें वैदिक भाषा में 'अप' या आप भी कहा जाता है । काम शरीर में जाव के सम्पर्क से ही होते हैं । इमीलिय स्थूलशरीर में

१ अद्गानां रस प्राणो वा अद्गानां रस अद्गि रसात्क गानां रस (शा० वा० १४ ४, १, ६ २१)

२ प्राणो वा अगिरा (शा० वा० ६, १, ९, २६, ६, ५, ३, ३ ४)

जाव को 'अपो वमान' (घष को आच्छादित करन वाला) अथवा 'अपानपान' कहा जाता है और आप^१ को अपानपान् स युक्त बतलाया जाता है। आप या अष गळ मस्कृन में जल का वाचक है, अत कमवाचक 'अप' को भी जल क रूपक द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक स्थान पर इनकी कल्पना एस ममुद्रा क रूप म की गई है जिनम मारा विश्व और समस्त िगायें जीवन प्राप्त (१ १६४, ४२) करती हैं। यही 'देवी आप है जिनमे प्रविष्ट जीव' वैश्वा नर अग्नि (७ ४८ ४) कहलाता है। अनेक आप (कर्मों आदि) म प्रविष्ट इम अग्नि के अनेक रूप (अग्नय) हो जात हैं (१, १६४ ५१) यह एक ही जीव स्पी णेव अनेक णेवा या जनिष्ठों म परिणत हा जाता है एक विश्वायु दव सम्पूण दवों (विश्वे देवा) क रूप मे होकर कर्मों (अपासि) को करता है (१ ६८, २३)।

स्थूलगरीर का विाव मनायु (१, ६२ ८) भी कहलाता है क्योकि मन इमम मिश्रित (१, १३८, १) है। यह मन हमे प्राणरूपी पिनरो (१०, ५८ ५) क माध्यम म प्राप्त हाता है यही र हैं जो अग्नि स्पी जीव की सवा (१, ७०, ५) करते दृय कह जाते हैं, और यही विा हैं जिनक कारण वह विश्वपति (१, १६४, १) विश्व (विा न विश्व) कहलाता (१ ७० २) प्रतीत होना है। स्थूलगरीर के विश्व म मिथिन एम मन म ही मनोमय स्तर निमित्त होना है। यही सूक्ष्म गरीर है जो मननगील होन म मनु है। इमी क मम्पक से स्थूलगरीर 'मनुष्य' सना प्राप्त करता है और उममे स्थित प्राण स्पी नरो को मनुष्यो का नाम दिया जाता है। मन क मिश्रण स ही स्थूलगरीर का पोषण सम्भव है अत जीव क इस पोषणकारी पश का पूषा अथवा मय दव (१ १३८, १) कहा जाता है। मख यन का एक नाम है वस्तुत मनोमय क एम मिश्रण अथवा विस्तार का ही मनु मन कहत हैं जो विश्व (जीव) म स अनेक तनुओ क द्वारा 'वितत' है मकडा दवकर्मों द्वारा आयन है और जिसक तान दान का बुनभ का काय पितर (प्राण) करत हैं। मनोमय, प्राणमय तथा अ नमय स्तरा का अमग थी अतरिक्ष तथा पृथिवी क प्रतीको द्वारा भी व्यक्त किया जाता है, इन तीनों स्थानों म अमग प्रत्यक म स्यारह

१ १, १६४ ३१ ४७, अ वे १०, ०, ७

२ १०, ३०, १४ १०, ३०, ३

३ १०, ३०, १४

४ या यज्ञो विश्वनम्ननुभिम्नत पशान दवकर्मविरावत ।

इम वयन्नि पिनरो य आययु प्रवयाप वयत्वास्तव तत्र (१ १३०, १)

ग्यारह देव इस यज्ञ का सवन करते हैं (१, १४०, ११), य देव सम्भवतः दश इन्द्रिया सहित मन के विविध रूपांतर मात्र हैं। य तैंतीस देव इच्छा ज्ञान और श्रिया शक्ति के विविध भेद में ६६ हो जाते हैं इन सब की समष्टि को सौवाँ देव कहा जा सकता है। इन्हीं सौवाँ के सक्रिय विस्तार में उक्त मनोमय मनुष्य हमारे सूक्ष्म और स्थूल शरीरों में चल रहा है।

इस मनोमय यज्ञ की विविधरूपों में कल्पना की गई है। ऋ० १०, ८५ १० १२ में इस मनोमय गाड़ी (अनो मनोमय) कहा गया है, जिसकी धुरी (अक्ष) प्राणमय तथा दाहिने अक्ष मनोमय तथा अक्षमय स्तर की इन्द्रिया (आत्र) शक्ति है। अत्र इसको एक पहियेवाले रथ के रूप में देखा गया है और मनोमय प्राणमय तथा अक्षमय स्तरों को उस एक पहिये की तीन नाभियों के रूप में (१ १६४ २) माना गया है इसी त्रिनाभि अक्षर चक्र में मनोमय मूल अक्षमय तर्क के सार भुवन (विश्व भुवना) स्थित है (१ १६४, २)। यही वह होत्र है जिसको ऊर्ध्व पञ्चजन (वर्षेन्द्रिया) और गोजात पञ्चजन (जानेन्द्रिया) सवन (१० ५२ ४ ५) करते हैं। यह प्रथम यज्ञ (होत्र) है जिसको मनु मन के द्वारा (मनसा) सप्त हाताप्रा (१० ६३ ७) के साथ आदित्या के लिए करते हैं। ब्राह्मण और उपनिषदों के अनुसार यह सप्त होता सप्त गोपथ्य प्राण हैं जो दाहिने अक्ष दो अक्षों दाहिने तथा एक मुख के रथ में हमारे मनोमय यज्ञ में आहुति डालते रहते हैं। वस्तुतः एक ही प्राण-शक्ति इन सात रूपों में व्यक्त होती है अतः स्पष्ट कहा गया है कि यह एक रथ है जिसमें लगने वाले सात अक्ष वस्तुतः सप्तनामधारी एक ही अक्ष है। यह विचित्र सप्तचक्र रथ है जिसपर स्थित सप्त अक्ष इसको घूर्णित रहे हैं (१ १६४ ३) चक्षु आदि उक्त सप्त इन्द्रिय स्थानों में स्थित सप्तविध ज्ञान-शक्ति ही सम्भवतः व सात बहनें हैं जो इस रथ में चारों ओर से आकर एकत्र होती हैं (१ १६४ ३) और यही सात गायें हैं जिनके सात नाम उक्त बहनों के सम्मिलित-स्थान में 'निहित बताए गए हैं।

मनोमय में लगे अक्षमय तर्क होने वाले वृहत् यज्ञ अथवा यज्ञ का कर्ता वस्तुतः एक ही मनोमय जीव या मनु है जो अमृत्य होत हुय भी मृत्य (स्थूल शरीर) के साथ गयोनि होकर वायु धरन वाला कहा गया है परन्तु इस जीव का एक रूप और है जो प्रथम अक्षुब्ध से विपरीत ध्रुव है अतः दोनों के मूल को व्यक्त करने के लिए प्रथम को जीव (पुलित) और दूसरे को जीवम्

१ १० १० ८५ वा अक्ष (श० १, १ ० ७ ३, ६, ३ ३)

२ सप्त दुर्गाणि रथमक्षचक्रमको अक्षो बहनि मन्वनागा (१, १६४, ०)

(नपुमक लिंग) कहा जाना^१ है। जीव पालित पुत्र है और जीवम् उमका पालक पिता^२ पहला पालित वाम अथवा वाम दक्ष^३ है तो दूसरा उमका गभ^४, प्रथम को वाम नामक पत्नी माना गया है तो दूसरे को उम पत्नी का गुप्त (निहित) पद^५। वाम का यह गुप्त पद या गभ रूपी जीवम् वैदिक मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारा विज्ञानमय स्तर है जो मनोमय (सूक्ष्मगरीर) का भी कारण होने से कारणगरीर कहलाता है। इसी से दक्ष मन का जन्म (१, १६४ १८) होता है जिससे सनद्ध हाकर जीव स्थूलगरीर (प्राणमय और अन्नमय) में (१ १६४ ३७) छिपा हुआ (निष्प) कम करता है। इस विज्ञानमय स्तर के दो ध्रुव (Poles), पर और अधो (१ १६४ १६) माने गये प्रतीत होने हैं जिसकी तुलना आगमा के उमन और समन से की जा सकती है। प्रथम ऊर्ध्व मुख अर्थात् मन से विज्ञान परे है तो द्वितीय अधोमुख अर्थात् मन की ओर उन्मुख है—एक वद्वामुख है तो दूसरा विद्वामुख। इन दोनों ध्रुवों के मध्य ऊ को कल्पना का गई है जहा विज्ञानमयस्तरों से समुक्त तत्त्वों के दानों रूप, पराञ्च और अधोञ्च उमन और समन अथवा वद्वामुख और विद्वामुख एकत्र होत हैं (१ १६४ १६)—इन दानों रूपा के दो लाक हैं पहला तप उन् वृहन नाक अन्तर परम व्योम आदि कहलाता (१ १६ ३६ ४१) है। और दूसरा मह, व्योम अथो (१, १६४, ४० ४६) आदि नाम ग्रहण करता है यही दोनों क्रमण गुण प्रयाण (४ ४६ ७ ४ ४६ ७ ४ ८१ २, ८ ४३ ६) एव कृष्ण नियान (१ १६४ ८३ १० १६ ४ १४० ५) हैं जो परवर्ती माहिन्य में सम्भवत उत्तरायण तथा दक्षिणायन कहलाते हैं। इन्हीं दानों के सन्निभ में जीवात्मा को क्रमण विषय मुपण वायव्य वृत्तम् (१ १६४ ५२) एव 'अथो विषय सुवर्ण गच्छमान् (१ १६८ ४६) कहा गया है जो पौराणिक वाक्भुगुण और गण्ट मान जा सकता है। प्रथम रूप में जीवात्मा अपने विश्व में सूय की उत्तर ज्योति के सानिध्य में रहता है अतः वह उमको दक्षता हुआ उत्तम ज्योति (स्वप्नि) तक पहुँच सकता है। इस जीवात्मा का गुण

१ अन् इत्तं नृगमानु चवमजं ध्रुव मय आपरयानाम ।

जीवा मृतम्य च नि स्वराक्षिरमयो मयेता मयानि ॥ (१ १६८ ३०)

२ १, १६, १८ १६

३ १, १६४, १

४ वै० द० प०

५ १, १६४, ७

६ सु० क० मापण ३१० १ १६८, ८३ ।

देवयान या उत्तरायण म ग है क्योंकि यहाँ सत्य स्वस्ति का मूय सदव सीधा प्रकाशमान है। अपन दूसरे रूप म जीवात्मा को सत्य स्वस्ति का मूय सीधी कि णी द्वारा प्रकाशित नहीं करता क्योंकि इसकी दृष्टि ऊँचमुखी न होकर अधोमुखी होती है। उत्तराभिमुख न हाकर दक्षिणाभिमुख हाती है। प्रथम म स्थूल बह क भोगो म स्व बुद्धि का त्याग करने म दिव्य 'स्वाहा' देवलोक की ओर ले जाती है जबकि दूसरे म स्थूल भोगो आदि म स्वबुद्धि होन स 'स्वधा अधिक स अधिक् पितु (अन्नमयकोश) की पुष्टि करती हुई पितृलोक तक ले जा सकती है। दूसरे म काम, क्रोध, मद, लोभ मोह आदि का पूण अंत नहीं होता। सौंदर्य मूय स्वस्ति क आवरण तत्त्व उमका नाश्वत दशन नहीं होने दत परंतु प्रथम रूप मे यह आवरण पूणतया हट जाता है और वह वह उगता है कि—

उद्वय तमतस्परि ज्योतिष्पश्यत उत्तरम् ।

देव देवत्रा मूयमगम ज्योतिरुत्तमम् (१, ५०, १०)

हमने अ धकार स ऊपर उत्तर ज्योति का पूणतया देखते हुए देवो क मध्य उत्तम ज्योति मूय देव को प्राप्त कर लिया ।

अर, अय और आय

इस उत्तम ज्योति को कभी कभी 'आय ज्योति' भी कहा जाता है। इस की प्राप्ति कोई सरल काय नहीं है और न उमके लिय छलांग ही लगाई जा सकती है। इसकी प्राप्ति के लिए पहल मानव देह रूपी वेदि को 'अर करक उम म अमृतधतन यज्ञ (१ १७१ ४) करना आवश्यक है। यह अर वस्तुत मह सु (महान् सौ दय) है (८ ४६ १७) जिसक द्वारा न बवल वन्ति अपितु इद्र सोम अग्नि (७ २६ ८ २४ २७) गो अश्व (४ २ २४ १५ ७) आग्नि मभी अर हो जान हैं। दूसरे शब्दो म हमारी समस्त इच्छा पान प्रिया गतियो का तंतुजाल अर होकर हमारा मन अरमतस निराम एव महस्रभृष्टि वय्य बनकर अहि (वृत्र) क वध (६ ७ १०) में समय हाता है। यह अरवृति तभी प्राप्त होती है जब यह सोम-तत्त्व हमारे मन तथा उपर द्वारा हमारे अस्तित्व क समस्त स्थूल भुवन को अर करे (१ १ ८, २) जिन ऊँच मह सु कहा गया है। यह अरकरण ही वस्तुत अस्तकरण है जिनका अर्थ है इच्छा प्रिया पान को मनमा वाचा कयणा गुट

करना है। यह अलकार ही वस्तुन सोदय है क्याकि इमक रिना स्वस्ति का सोदय सूय नही प्राप्त हो सकता है।

जो जीवात्मा म अर की प्राप्ति क लिए (अरगमाय) प्रयत्नगील है (८४६१७) वह अय कहलाता है और वसक समस्त गुण इसकी पुष्टि या सम्पत्ति है। जो अय अर का प्राप्त कर लेता है वह आय है और वदिक दशन और जीवन का लक्ष्य आय बनना आय नामक सोदय ज्योति को प्राप्त करना ही है—विश्व नामक जीव को आय बनाना ही है (वृष्वतो विश्वमायम्)



सौन्दर्यानुभूति

साधारणतया जिस वस्तु से मानव के मन में कोई सुखद अनुभूति होती है उसको वह सुंदर कहता है। प्रातःकालीन उषा की लालिमा, निरभ्र आकाश की नीलिमा, गरत पूर्णिमा की ज्योत्स्ना, रंग विरगा इन्द्रधनुष, रक्ताभ कमल, पीला सषप पुष्प आदि सभी वस्तुएँ मानव के लिए सुंदर हैं, क्योंकि वे उसके मन में एक सुखद अनुभूति उत्पन्न करती हैं। इसी सुखद अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति यद्यपि हृदय में तत्त्वतः एकरूप होती है परन्तु माध्यम भेद से यह कई प्रकार की मानी जा सकती है।

चक्षु-ग्राह्य सौंदर्य

जिस अनुभूति की प्राप्ति चक्षु के माध्यम से हृदय में होती है उसे हम चक्षुष्य सौंदर्य कह सकते हैं। दो उदाहरणों द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी —

१ सुंदर गिण्टु—गाँव की एक घूल भरी गली में एक नहा-भा गिण्टु खेल रहा था—सुंदर सलोना परन्तु घूल से सना हुआ।

राह चलत हुए दो पथिकों में से एक के पर उसे दृग्गत ही रुक गए— 'ग्राहा ! कसा सुंदर बालक है वह बोल उठा। हाँ दूसरे ने चलत-चलत कहा, परन्तु वह ठहरा नहीं। पहला पथिक उस निर्निमग्न दृग्गत रहा। निहारत-निहारत वह गिण्टु के पास गया। उसने बच्चे को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए मिठाई दी और उसे गोद में उठा लिया।

पास ही एक भय बालक भी खेल रहा था, उसने भी अपनी छोटी-छोटी सी 'बाह' उठाई और पथिक की ओर चाह भरी दृष्टि से देखा, किन्तु पथिक

ने तनिक भी परवाह न की—और उसी सुन्दर बालक को धमता रहा—प्यार करता रहा, ध्यान दे विभोर होकर।

पथिक की इस सौन्दर्यानुभूति का साधारण सा विश्लेषण करने पर भी निम्न लिखित बातें सामने आती हैं—

१ सुन्दर शिशु ने पथिक को आकर्षित किया और अनुन्दर प्रयत्न करके भी उसे आकृष्ट न कर सका—सुन्दर प्रेम (विषय) में आकर्षकत्व होता है।

२ दूसरा पथिक शिशु के सौन्दर्य को स्वीकार करके भी उतना आकर्षित नहीं हुआ—बशर्ते सौन्दर्यानुभूति केवल प्रेम (सुन्दर शिशु) के आकर्षकत्व पर ही नहीं प्रमाता (पथिक) के आकर्षणीयत्व पर भी निर्भर है।

३ यह आकर्षण तभी सम्भव हुआ जब पथिक ने शिशु को देखा उसकी जीवित और जाग्रत इन्द्रियो से विषय का भी सन्निकषण हुआ—सचेतन इन्द्रिय सन्निकषण होने पर ही आकर्षण सम्भव होता है।

४ सुन्दर शिशु को देखते ही पथिक के मन में एक अनुभूति हुई जिससे प्रेरित होकर वह बोला—'भाहा ! कितना सुन्दर है यह शिशु !'—सुन्दर को देखकर एक सुखद अनुभूति होती है।

५ पथिक केवल इस सुखद अनुभूति से ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह निहारने, धूमने पुचकारने आदि की क्रियाओं के लिए विवश हो जाता है और अपने हृदय की गुदगुदी दूसरे से भी व्यक्त करता है—अनुभूति की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है।

६ शिशु को वह गोद लेने के लिए विवश हो गया—सुन्दर विषय को धमनाने की चाह होती है।

अतः पथिक की सौन्दर्यानुभूति में मूलतः दो पक्ष हैं—(१) प्रेम (विषय) का आकर्षकत्व तथा (२) प्रमाता का आकर्षणीयत्व। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित अवस्थायों में प्रकट होता है—

१ सचेतन इन्द्रिय-सन्निकषण,

२ अनुभूति,

३ अभिव्यक्ति

४ धमनाने की चाह।

२ सुन्दर-पुण्य—शिशु भी सुन्दर है और पूल भी परतु पूल तथा शिशु में पोशा-ना भू प्रतीत होता है—शिशु धमने प्रमाता (पथिक) को उत्तर देता है धमने छोटे-न हाथ उठा सकता है हस सकता है रुठ सकता है, भाग सकता है परतु पुण्य के व्यापार में ऐसी विविधता, ऐसी सचेतनता तथा ऐसी भाव-

प्रवणता कहां ? एक हरे भरे उद्यान में किसी सुन्दर पुष्प को देखकर मानव प्रानन्द विभोर हो गया और उस समय उसके मन में जो सुखद अनुभूति हुई, उसकी अभिव्यक्ति कविता में परिणत हो गई—

उपनाती सुषमा के बुदबुद ! अंग अंग मुसकाते ।

मीठे-मीठे मादकतामय निस्वन गान सुनाते ॥

सरस हृदय के चञ्चल वित में चुम्बन-चाह जगाते ।

कैसे चूमने को हँस हँसकर फोमल ओठ उठाते ॥

किसी ऐन्द्रजालिक ने क्या यह रची तुम्हारी काया ?

अहो ! कौन आकषण या सम्मोह ? कौन-सी माया ?

कसौ चाह विचित्र धरे ! यह तुमको अपनाने की ।

निज अतस में रखने, तुममें घुल मिल रम जाने की ॥

हे चुम्बन की चाह ? नहीं उससे नित नव बढ जाती ।

आलिङ्गन ? ओ आलिङ्गन से भी तो तृप्ति नहीं पाती ॥

निदय भौतिक मिलन, तुम्हारी रूपश्री कुम्हलाती ।

रहती चाह अतप्त विकलता मेरी बड़-बड़ जाती ॥

बोलो मेरे फूल ! कहो मेरी वाणी में बोलो !

तुममें कसे मिलूँ, समाऊँ भेद मनोरम खोलो ।

'तुम मेरे हो मैं कहता हूँ तुम भी कह दो 'तुम मेरे' ।

एक अहम् हो हँसे द्रत जब विहँसे उपा सबेरे ॥

यहाँ कवि एक पुष्प को देखता है तो उसे ऐसा लगता है कि विश्व के सारे सौन्दर्य में उफान आया है, और उसी में उठते हुए बुदबुदो में से एक उसके सामने है जिसे वह फूल कहता है और जिसके अंग अंग उसे मुस्काते हुए से दिखाई पड़ने हैं । इसी फूल (विभाव) से नेत्रेन्द्रिय-सन्निकष होने पर भावुक के मन में एक अनुभूति का 'विभावन' होने लगता है । प्रथम तो यह एक चाद्युप सौन्दर्य की अनुभूति होती है जिसके फलस्वरूप उसको फूल के अंग अंग में मुस्कान प्रतीत होती है, परन्तु शीघ्र ही यह अनुभूति एक अतीन्द्रिय या अद्वितीय अनुभूति में परिणत हो जाती है और कवि को एक मंदिर, मधुर एवं निस्वन गान-सा सुन पड़ता है । इस सारी अनुभूति की अभिव्यक्ति विभाव (फूल) को लक्ष्य करके, एक विचित्र चाह के रूप में होती है । यह चाह चुम्बन, आलिङ्गन आदि भौतिक सम्पर्कों से तृप्त होने वाली नहीं है यह सम्भवतः विभाव की अपनाने की चाह है, उसमें घुल मिल कर रमने की, अथवा उसके साथ एक अहम् होने की चाह है ।

श्रोत्र-प्राह्य सौन्दर्य

सपरा जब अपनी बीन बजाता है तो सप भी अपनी भयङ्करता को भूलकर मस्ती से झूमन लगता है तथा मुग्ध-मुग्ध खोकर सपरे क हाथा बन्ती होता है । बालकृष्ण का बगी को सुनकर गोपियों और गायो के ही नहीं अपितु तीनों सोनों के मुग्ध होने की बात कृष्ण भक्त कवि कहन धाय हैं । व्याध क संगीत से मुग्ध हाकर हरिणा द्वारा प्राण दिय जान की बात कवि-परम्परा का मव-माय मत्य हा बुवा है । परीहरे की पी पी कोकिल की तान तथा बुलबुल के कलरव पर वमुग्ध हान बाल अनज कवि मिस जायेंगे । कवाध्वनि पर मस्त होने वालों की भी कमी नहीं । वीणा नितार सारंगी सन्नूर गहनाइ मृदग श्राप्ति वाद्ययन्त्रों की ध्वनिया म भी मन को मोहन और मनुष्य का बेसवर करन की शक्ति है । इस बात को प्राय मव मान लेंगे । यहाँ पर एव घटना का उल्लेख करना अनुचित न हागा—

ज्येष्ठ मास की दुर्हरिया का समय और राजस्थान म कोटा की गर्मी फिर भी सत्मा एव अत्यन्त कण्ठप्रिय ध्वनि का सुनकर सारा माहूला सडक पर ठमठ पडा । जिधर से ध्वनि आ रही थी उधर ही मव दीडे जा रहे थे उनप से मनेव नये पाव थे—बच्चे ही नहीं प्रौढ स्त्री पुग्ग भी । दखा तो नान हुमा कि पेठ की छाया क नीचे कोई कलिपुगी धानकृष्ण राडा हुमा कुछ मुह स बजा रहा है । जैसे-जैसे भीड बढ़ती गई वम वमे उम सडक का उत्साह भी बढ़ता गया और वह अपनी कना क सुन्दरतम रूप का रमन का प्रयत्न करता गया । जो लोग पास सडे थे वे मात्र मुग्ध स सडे थ जो दूर थ व निकट पहुचन का प्रयास कर रहे थ । मन्त्र म बाजा बजना बर हुमा, और लाग पूछन लग 'यह कौन-सा बाजा है ? उत्तर मिला 'मुरचग । इसक बाद प्रना की मडी लग गई— मुरचग क्या होता है ? कही मिनगा ? क्या दाम है ? बचाव ? विज्ञापण क्या ?' सडक न क्या उत्तर मिया यह निप्रयोजन है परन्तु जान के माध्यम स प्राप्त होने वाले सौन्दर्य ने सब लोगों का मन एमा लुभाया कि वह सडका ठम स्थान से चल दिया तो भी उगर बटून म प्रणवक पीछे पीछे खने जा रहे थ । तब ममम म छाया कि श्रोत्र सौन्दर्य म जो जाडू है वह वायुप सोन्दर्य के किसी प्रकार काग नहीं ।

गन्ध और स्वाद के रूप में हम सुखद अनुभूतियाँ होती हैं जो उक्त चक्षुःग्राह्य अथवा श्रोत्रग्राह्य सौन्दर्यानुभूति से किसी प्रकार कम नहीं। जिस मोजन अथवा मिष्ठान्न को देखकर या यादकर के मुँह में पानी आ जाता हो उसे कौन सुन्दर न कहेगा ? नासिका के माध्यम से प्राप्त गन्ध के सौन्दर्य का प्रमाण वादम्बरी के महाश्वेता-वृत्तात् से मिलता है जहाँ पारिजात मञ्जरी की गन्ध का प्रभाव बतलाया गया है। साधारणतया भी रसोई अथवा वाग से आने वाली गन्ध को गहरी साँस के द्वारा सूँघने वाले तथा 'आह, कसी सुन्दर गन्ध है।' कहने वाले प्रायः मिल जाते हैं। त्वचा की स्पर्शद्रव्य के माध्यम से प्राप्त सौन्दर्य का प्रमाण परिरम्भण, चुम्बन, आलिङ्गन आदि में देखे जा सकते हैं। जिस स्वाद गन्ध तथा स्पर्श को हम सुन्दर या सुखद मानते हैं, उसे पाने और अपनाने के लिये हम उसी प्रकार लालायित हो जाते हैं जिस प्रकार सुन्दर रूप अथवा सुन्दर ध्वनि को।

काव्य-सौन्दर्य

चक्षुःश्रोत्र, जिह्वा नासिका तथा त्वचा के माध्यम से जिन सौन्दर्य की अनुभूति होती है उसकी तुलना हम उस सौन्दर्यानुभूति से भी कर सकते हैं जो हम काय के माध्यम से प्राप्त होती है और जिसे प्रायः रसानुभूति की संज्ञा दी जाती है। कालिदास आदि कवियों का काव्य में हम जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है वह चक्षुःश्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा से ग्राह्य सौन्दर्य तो नहीं है परन्तु तत्त्वतः वह उससे भिन्न भी नहीं है क्योंकि वस्तुतः विदलेपण करने पर काव्य जिन मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है व चक्षुःश्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा द्वारा प्राप्त रूप रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही तो होते हैं। अन्तु काव्य का सौन्दर्य मानस ग्राह्य है।

मानस-ग्राह्य सौन्दर्य

काव्य का सौन्दर्य ही क्यों, जिस सौन्दर्य को ऊपर हमने चक्षुःश्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य कहा वह भी तो अततोक्तत्वात् मानस ग्राह्य ही होता है। सुन्दर गिणु अथवा पुष्प के साथ चक्षुः इन्द्रिय का सन्निक्त्व^१ होने पर भी तो सौन्दर्य की अनुभूति मानस में ही होती है जिसके फलस्वरूप विभाव (शिगुया

१ देखिये— 'वज्रप्रायः सौन्दर्य', पृष्ठ १।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका
 पुष्प) को धरनाने की चाह उत्पन्न होती है। अतएव सौन्दर्यानुभूति में विभाव
 की अपेक्षा मानसिक चाह को प्रायः अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है—
 मोठी-मोठी वस्तु नहीं, मोठी चाकी चाह।

धमती निधी छाँड़ि के भाफू खाति सराह ॥
 कुरूप लला मजनु के लिए कडुवी मफीम मफीमची के लिए तथा चपटी
 नाक चीनी व लिए इसी कारण सुन्दर प्रतीत होती है। अतः प्रश्न होता है कि
 फिर किसी वस्तु को सुन्दर क्यों कहते हैं।

सौन्दर्य और अर्थ विज्ञान

यह प्रश्न यथायत अर्थ विज्ञान का है। इसके उत्तर के लिए हम सौंदर्य
 प्रकृति व उस समय के मानस का विश्लेषण करना पड़ेगा जिस समय वह किसी
 सुन्दर रूप सुन्दर संगीत आदि से प्रभावित हुआ हो। जब आप किसी सुन्दर
 संगीत से प्रभावित होकर सचमुच भूमने लगें या जब आप किसी सुन्दर दृश्य
 को देखकर उछल पड़ें उस समय यदि आप अपनी आँसुओं और कानों को बन्द
 करके एकाग्रचित्त होकर बैठ जायें तो आपको एक ध्वनि सुनाई पड़ेगी जिसको
 सु या सुम् हू या हूम तथा उ या उम् द्वारा व्यक्त किया जा सकता
 है। इसी ध्वनि जो वस्तुएँ हम प्रिय होती हैं उनका नाम के पहले हम सु लगा
 देते हैं। सुम् सोम और सोमल जमे बहुत से मनोनुकूल पदार्थों व सञ्चित
 नाम सुम् से निकल हुए हैं। सूफी लोग ध्यानावस्था में सुनी जाने वाली एक
 ध्वनि को हू हू की आवाज कहते हैं, फारसी में हूम से निकले हुए हुमा होम
 आदि शब्द अत्यन्त प्रिय पदार्थों का नाम हैं। सञ्चित में उ गिव और ब्रह्मा
 का नाम होने व अतिरिक्त चन्द्रमण्डल का भी द्योतक है तथा उम् अर्थ धर्म
 व साथ गान्ति तथा नम्रता का सूचक है और उम् से निष्पन्न उमा उम धोम्
 धोमन् आदि शब्द ध्यान देवारी पदार्थों का नाम हैं। आध्यात्मिक पद में सुम्
 हूम और उम् से निकल हुए शब्द सु हू तथा उ से निष्पन्न गान्ति की अपेक्षा

१ उ० क० सुरामन सुमन्ति, सुपात्र।

२ उ० क० सुन (चन्द्र कपूर, आभारा), सुम (पुष्प) सुम्न (इय सुत, प्रसाद, पुष्प)
 सोम (चन्द्र अमृत, किरण कपूर) सोम (आभारा, स्वा) सोमल (कोमल सुन्दर)
 सुम्न आदि।

३ उमा शब्द का अर्थ प्रकाश तेज, ज्योति शक्ति, वरा आदि हैं। यह जगत्तन्त्री
 पदवी का भी नाम है तथा उपनिषदों में उमा देवता की एक निव्य स्त्री भी है जो देवों
 के सामन प्रकट होती है।

अधिक प्रचलित हुए भासूम पड़ते हैं, अतः सस्कृत और फारसी में अमश सोम तथा होम तो परम आनन्ददायक दिव्य पेय के ही नाम हैं और सस्कृत में ओम' तो आनन्दस्वरूप परमात्मा का ही द्योतक है। सस्कृत ओमन् ओमनवत ओमात्रा तथा ओम्या शब्द भी वरदान, दया, प्रसन्नता आदि सुखद वस्तुओं अथवा स्थितियों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सस्कृत भाषा परिवार के बोलने वालों ने सुखद विभागों के सम्पर्क में आकर अपने मन में जिस अनुभूति को पाया उसके लिए उन्होंने सुम्, उम् अथवा हुम् नाम दिया, जो सम्भवतः अपने सन्निप्त रूप 'मु', 'हु' तथा 'उ' के रूप में भी आय भाषाओं में बने रहे परन्तु सस्कृत में उक्त आनन्दानुभूति के लिए सुम् शब्द का ही प्रयोग अधिक व्यापक रहा जिसके फलस्वरूप जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय सन्निकष होने पर उक्त सुम् नामक आनन्दानुभूति होती थी उसको सुन्दर कहा जाता था (सुम् देने वाली सामर्थ्य से युक्त)। अतः अथ विज्ञान के आधार पर यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि सस्कृत भाषा भाषियों के पूर्वजों ने उन्हीं पदार्थों के लिए सुन्दर शब्द को प्रयुक्त करना आरम्भ किया होगा जिनके सम्पर्क से उनके हृदय में सुम् नामक अनुभूति उत्पन्न हुई होगी। जसा आगे बतलाया गया है यह 'सुम् सम्भवतः ऋग्वेद के सु+ऊ सं मिलकर बना है।



सौन्दर्य का निरूपण

पहले अध्याय में किए गए विवेचन से स्पष्ट है कि जो सुम् नामक अनुभूति (मोल्नर्यानुभूति) प्रमाता या भावुक के मन में होती है वह किसी न किसी याह्य अथवा आन्तरिक विभाव के विभावन का परिणाम है। परन्तु इस पर भी स्वभावतः अनेक प्रश्न उठ पड़े होते हैं। विभावन का क्या स्वरूप है? उसका कारण क्या है? अथु ग्राह्य को दय के प्रसंग में उद्धत कविता¹ के कवि ने जिस आक्षेपण सम्मोह या माया बहा है वह वास्तव में क्या और क्या है? उमका साधारण क्या है? उमका प्रयोजन क्या है? वह विभावन का कारण क्या और क्या बनता है? उस विभावन द्वारा विभावित अनुभूति का क्या स्वरूप है और वह कहीं से और क्यों आती है? इस अनुभूति की अभिव्यक्ति विभाव को लक्ष्य करके क्यों होती है और उसमें विभाव का क्या हित अथवा महित है? समाज को लक्ष्य करके भी अनुभूति की अभिव्यक्ति क्यों होती है? इस प्रकार की अनुभूतियाँ या अभिव्यक्तियाँ का कौन सा सामाजिक हेतु या उपयोग है? क्या अनुभूति और अभिव्यक्ति स्वाभाविक है? क्या अनुभूति एक अभिव्यक्ति के समान ही विभावन भी एक सचचतन अथवा सजान व्यापार है? विभाव और प्रमाता में ऐसा कौन-सा अदृश्य तत्त्व है जो इस सम्पूर्ण व्यापार का जन्म देता है? कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो इस व्यापार में बाधक होता है?

एसी प्रकार के अनेक प्रश्नों की श्रुतता सत्या-वेधी मानव मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है—एक एसी प्रश्न श्रुतता जो सौन्दर्य-तत्त्व को रोजत-रोजते

¹ अन्वय प्र० अ०, पृष्ठ ३।

विभाव एक प्रमाणा के मूल तत्त्व तक पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा रखती हुई-सी प्रतीत होनी है। अतः ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध एक साधना है। इसी साधना के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करना ही सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य है, मानव के इस अध्येतव्य में सहायता पहुँचाना ही इसका प्रमुख प्रयत्न है।

सौन्दर्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण

सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्रायः दो दृष्टिकोणों से सौन्दर्य तत्त्व पर विचार किया है—एक तो विभाव की दृष्टि से दूसरे प्रमाणा (व्यक्ति) की दृष्टि से। प्रायः देखने में यह आता है कि विभाव पक्ष से विचार प्रारम्भ करने वाले भौतिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं और प्रमाणा पक्ष को लेकर चलने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर जा पहुँचते हैं। अतएव अभी तक जितने भी सौन्दर्यशास्त्री हुए हैं—अथवा अभी तक जिन लोगों ने सौन्दर्यशास्त्र पर लेखनी उठाई है उनका दो वर्गों में बाटा जा सकता है—

१ भौतिकवादी २ अध्यात्मवादी

१ भौतिकवादी दृष्टिकोण—भौतिक दृष्टि (जो यथाथत व्यावहारिक दृष्टि है) से सौन्दर्य का आधार 'विभाव' है अतः उसी के वर्गों में उसकी बाँट की जाती है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी विचार में कहा—

'भवेत् सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशोयथोचितम्।' इसी यथोचित सन्निवेश को सेमेट्रि ने अपनी श्रीचित्य विचार चक्र में उचित-स्थान विद्या में कहा है और सम्भवतः इस दृष्टि से श्रीचित्य ही सौन्दर्य माना जा सकता है। यदि ध्यान में देखा जाय तो अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के अंग—सममिता (Symmetry), व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) तथा निश्चित आकार (Certain magnitude) इसी श्रीचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। हागाथ ने जब रेखा, रूप रङ्ग एवं क्रम के सौन्दर्य मीमांसा की भित्ति, वस्तु की क्षमता (Fitness), विचित्रता (Variety), सममिता (Symmetry), स्पष्टता (Distinctiveness), जटिलता (Intricacy), और विमालता (Magnitude) पर लड़ी की तो भी वह श्रीचित्यवादी की सीमा को न लाँघ सका। यही बात वस्तु के विभिन्न वर्गों में स्थित पारस्परिक सम्बन्ध में सौन्दर्य देखने वाले दाइदेरो और उस

१ तु० ४०, श्रीचित्य विचार चक्र श्लो० ३, ६, ९०, १५, २१० १५, ६८, १७० ३, ३३, आदि।

2 Beauty consists in the perceptions of relations—Diderot

बक के विषय में बहो जा सकती है जो आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness) क्रमिक परिवर्तन (Gradual variation), कोमलता (Delicacy) वण प्रदीप्ति (Brightness of colours) तथा गुदता (Purity) को सौन्दर्य के उपादान स्थिर करता है। रिचाड प्राइस के एकरूपता (Uniformity) वैविध्य (Variety) व्यवस्था (Order) तथा सम्मार्थ (Symmetry) एवं क्रमाज के वैविध्य एकत्र एकरूपता व्यवस्था तथा अनुपात में सौन्दर्य के उपकरण बूझने के विषय में भी यही मत लाइ होता है। वस्तुतः बात यह है कि वे सभी बिना विभाव या वस्तु के आकार प्रकार, भग प्रत्यग तथा रूपरग आदि में ही सौन्दर्य को लोज करते और घूम फिर कर बिना ही न बिना ही मौचित्यो को ही सौन्दर्य का कारण मानते लगे। कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो विभाव (वस्तु) के आकार प्रकार आदि तक ही सीमित न रहकर कुछ भागे बढ़ हैं परन्तु फिर भी अपने दृष्टिवाण को भौतिकवादी बनाये रखा है। अतएव डा० जेराड जहाँ विभाव की दृष्टि में आकृति-सौन्दर्य (Beauty of Figure) तथा वण सौन्दर्य (Beauty of Colour) को मानता है वहाँ वह प्रमाता (अनुभू) को ध्यान में रखकर उपयोग-सौन्दर्य (Beauty of Utility) भी मानता है। इसी प्रकार डा० सलो नय (Sensuous) तथा साहचर्योद्भूत (Associative) मानस सौन्दर्य (Beauty of meaning or expression) को भी मानता है। एलीसन जफे तथा बेन आदि साहचर्य नियम (Law of Association) को मानने वाले विद्वान् यद्यपि विभाव (वस्तु) को सौन्दर्य मीमासा से बहिष्कृत करते हुए स प्रतीत होते हैं परन्तु यथाथ में उनका मत में भी प्रधान स्थान विभाव को ही प्राप्त है क्योंकि उनके मतानुसार जो सुवच अनुभूतियाँ साहचर्य नियम द्वारा प्राप्त होकर सौन्दर्य का कारण बनती हैं वे वस्तुतः और अनिवायत विभाव (वस्तु) का लक्ष्य करके ही उपजती और सञ्चित होती है। पेरबपी महोदय यपि विभाव को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं और सौन्दर्य का कारण विभिन्न वस्तुओं एवं विभिन्न प्राणिवर्गों के परस्पर भिन्न सौन्दर्य आदर्शों में देखते हैं, परन्तु उनका भी यह प्रयत्न सफल नहीं होता क्योंकि अतसौगत्वा में आदर्श भी विभिन्न विभावों से ही ब्रिपके हुए हैं। अतः प्रथा और आदर्श को ही सौन्दर्य मानने वाले लाड नेम विलियम सेस्टन तथा अम्राह्य टयूकर को भी, बपी ही सौन्दर्य का मानव के भौतिक व्यवहार से ही सम्बद्ध करते हैं। ही सौन्दर्यास्तिक्यो से मिलते-जुलते वे विद्वान् हैं जो अपनी मीमासा में

विभाव विशेष को महत्त्व न देकर विभाव सामान्य अथवा प्रकृति को देते हैं। इस ढंग में सबसे प्रथम रेनाल्डस का नाम लिया जा सकता है। उनके मतानुसार प्रत्येक प्राणी और पौधे को प्रकृति उसके पूव निर्धारित रूप की ओर लिये जा रही है, और यदि हम उनके रूपों में सौन्दर्य देखते हैं, तो केवल इसलिये कि हम ऐसा करते आये हैं, हमारी यह आदत उसी प्रकार की है जिस प्रकार 'हाँ' से स्वीकृति और 'ना' से निषेध का ज्ञान होना। डार्विन के मतानुसार प्राणियों या पौधों के रूपगत म पाये जाने वाले सौन्दर्य का कारण है प्रकृति निर्वाचन और उसका उपयोग है वंश वृद्धि के लिये आवश्यक लिङ्ग निर्वाचन। मनुष्य आदिम काल से बाद, मूल फल खाते खाते पेड़ पौधों के रूपगत में सौन्दर्य देखने लगा, इसी सौन्दर्य से आकृष्ट होकर वह अथवा पशु पक्षी आदि अन्य प्राणी उनके (पेड़ पौधों के) बीजा को स्थान परिवर्तन आदि द्वारा उनकी वंश-वृद्धि में सहायक होते हैं। पत्तों का सौन्दर्य मानो उन मधुमक्खियों तितलियों आदि को रिझाने के लिए है जो अनजाने ही अपनी सौन्दर्य लिप्सा में पड़कर एक फूल का परागकेसर दूसरे के गभकसर में पहुँचा देते हैं। तितली का रंग पत्तों जसा रंग बिरगा इसीलिए है कि वह फूलों में छिपकर आत्म रक्षा कर सके।

सौन्दर्य भीमासा में अन्य प्रकारों से भी प्रकृति का उपयोग किया गया है जिनमें ह्यूम और हरबट स्पेन्सर के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। ह्यूम के मतानुसार प्रकृति न विषयो (विभावा) में कुछ ऐसे गुण निहित कर दिए हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य भावना को जागृत करत हैं¹ परन्तु सौन्दर्य स्वयं कोई वस्तुओं का गुण नहीं अपितु सौन्दर्यानुभूति करन वाले मन में विद्यमान है (Beauty is no quality in things themselves It exists only in the mind which contemplates them)। हरबट स्पेन्सर एक मूल सौन्दर्य भावना की कल्पना करता है, जो न केवल व्यक्ति के अपितु उसकी जाति के जीवन में अमंग विकसित और सत्कार रूप में सञ्चित होती रही है। इसी के कारण हमें सौन्दर्यज ज्ञान प्राप्त होता है। स्पेन्सर की मूल सौन्दर्य भावना की तुलना

1 'It must be allowed that there are certain qualities in objects which are fitted by nature to produce these particular feelings'

'We admire beauty for no other reason than that we are used to it'

रस्किन की प्रमेयात्मक (Theoretic) वृत्ति से की जा सकती है, परन्तु रस्किन स्पेसर के विपरीत उसे प्राकृतिक विकास से उत्पन्न नहीं मानता, और उसके मत में एक सौन्दर्य की कल्पना निहित है जिसके अनुसार वह सौन्दर्य को वस्तुगत (Typical) तथा मौलिक (Vital) दो प्रकार का मानता है।

२ अघ्यात्मवादी दृष्टिकोण—जैसा ऊपर देना चुके हैं हमने ही सौन्दर्य को प्रमाता व मन में स्थिर मानकर सौन्दर्य मीमांसा में प्रमाता को प्रमुख स्थान दे दिया परन्तु फिर भी वह वस्तु स्थित गुणों का अत्यधिक आश्रय लेने में भौतिकवादी हो बना रहा। इसी प्रकार, रस्किन ने वस्तु की अनन्तता (Infinity) एकरता (Unity) स्थिरता (Repose) सम्मत्ता (Symmetry) शुद्धता एवं सयति (Moderation) में सौन्दर्य देखते-देखते अपनी ईश्वरवादी विचारधारा व कारण बलगत वस्तु को इन गुणों का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ा है। परन्तु इन दो भौतिकवादी ईश्वर को महत्व देकर सौन्दर्य मीमांसा की है जिनमें कुछ तो अपनी धार्मिक श्रद्धा व बर्णनीयता होकर ही ईश्वर की सवगुणसम्पन्नता में सौन्दर्य को भी स्थान दे दते हैं। अतः अष्ट आगस्टायन व अनुसार प्रथम शिवत्व सत्यत्व एवं सौन्दर्य ईश्वर व गुण हैं और ईश्वर ही वस्तुओं को ये गुण प्रदान करता है। लेवीक (Leveque) सौन्दर्य को ईश्वर अथवा मन की अभिव्यक्ति मानता है जो वस्तुओं व एतत्त्व वचिश्य वण एत कामलत्व आदि गुणों द्वारा प्रकट होती है।

कुछ हम सौन्दर्यात्मक हैं जिन्होंने प्रमाता और प्रमय दृष्टि और वस्तु को एक में लाने का प्रयत्न किया है। थियोडोर विश्वर व अनुसार जबकि कला अथवा सुन्दर विषय में प्रमाता ही अपने को प्रमय रूप में देखता है शेलिंग (Schelling) प्रमाता (Subject) एवं प्रमय (Object) आत्मा एवं विश्व की एकता में विश्वास करता है। उनके अनुसार अह और तद एक आत्यंतिक प्रमाता द्वारा अभिन्न रूप से एकत्व में सम्बद्ध हैं परन्तु प्रमाता एवं विषय की यह एकता अच्छा एवं जान के क्षण में तो अस्पष्ट या धुंधली भी रहती है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति कला में होती है। इसी प्रकार सान्त में अनन्त की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य कहते हैं। शायेनहावर प्रमाता (Subject) एवं विषय (Object) को मूल सत्त्व (Will) का परिणाम मात्र मानता है और सौन्दर्य का भी वही सत्त्व की किसी शक्ति का उत्पत्तीकरण मानता है। हेगेल भी इसी प्रकार दोनों को एक ही चरमत्व (Absolute) का परिणाम मानता है।

और सौन्दर्य^१ को इन्द्रिय ग्राह्य अध्यात्म-तत्त्व समझता है, परन्तु सौन्दर्य की उपस्थिति केवल प्रकृति एवं कला व इन्द्रिय-ग्राह्य रूप में मानने से, वह अपनी सौन्दर्य भीमामा का 'यूनाधिक भौतिक क्षेत्र में ही सीमित कर देता है।

इस प्रकार का विचारधारा में सर्वोच्च स्थान प्लेटो एवं प्लोटीनस का है। प्लेटो भारत के तार्त्रिक दर्शन की भाँति दो प्रकार की सृष्टि मानता है, जिसको वह गुद्ध और अनुद्ध सृष्टि न कहकर चेतन (Ideal) एवं प्रतीयमान दुनिया (Phenomenal world) कहता है। पहली में दूसरे व मभी रूप और तत्त्व बीज रूप में विद्यमान हैं। अतः उनके अनुसार "प्रतीयमान जगत् व सौन्दर्य का मूल रूप भी चेतन (Ideal) जगत् में है, जो अद्वैत तथा आत्यंतिक सौन्दर्य है जिसमें न ह्रास है न वृद्धि, न उदय है न अस्त, अपितु जा सदा ही एकरूप रहता है।' प्रत्येक सुन्दर वस्तु इसी आत्यंतिक (Absolute) सौन्दर्य से ही सुन्दर है। इसीलिए प्लेटो का कथन है कि "जो भी सौन्दर्य के तत्त्व की यथोचित खोज करने में दत्तचित्त हागा उसे विभिन्न सुन्दर रूप देखते ही यह पता लगेगा कि एक रूप की सुन्दरता दूसरे की सुन्दरता से भिन्न नहीं है और फिर भी यदि वह साधारणतया विभिन्न रूपों में ही सौन्दर्य दूँता रहा तो उससे बड़ा मूल और कौन होगा, क्योंकि वह यह भी न जान सका कि सब रूपों में सौन्दर्य एक ही है।' प्लोटीनस व अनुसार त्रिव्य का मूल तत्त्व शिवत्वमय एक है जिसमें प्रज्ञा अथवा बुद्धि (Objective-reason) का उदय होता है यही आत्यन्तिक सौन्दर्य है जो भौतिक पदार्थों को निज गति द्वारा आकृति प्रदान करके सौन्दर्य देता है। प्लेटो और प्लोटीनस के आत्यन्तिक (Absolute) सौन्दर्य की तुलना साठ गोपेगवरी के प्रथम सौन्दर्य (First beauty) से भी की जा सकती है जो स्वय ईश्वर है और जिसके प्रतिबिम्ब स्वरूप जगत् के सारे सौन्दर्य बनमान हैं। इचीसन का आत्यंतिक सौन्दर्य भी बहुत कुछ ऐसा ही है और उसके सापक्षिक सौन्दर्य व अन्तर्गत प्रतीयमान या दृश्य जगत् का सारा सौन्दर्य रक्खा जा सकता है।

कुछ ऐसे भी सौन्दर्यगास्त्री हुए हैं जो मानव-व्यवहार के विवरण द्वारा सौन्दर्य भीमामा में प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं। इस दृष्टि से गिलर व अनुसार मानव-व्यवहार व तीन क्षत्र हैं—(१) जब जगत जहाँ आत्मा भौतिक वधनो से जकड़ा हुआ कम में प्रवृत्त रहता है (२) नीति-जगत, जहाँ

1 The beautiful is the spiritual making itself known sensuously

आत्मा नतिक बचनो म बधा रहता है और उसका भाचरण पूर्ववत् ही सीमित और ध्रुवस्थ मा रहता है। (३) इन दोनों क्षेत्रों के बीच क्रीडा जगत् है जिसमें कोई बचन नहीं और जहाँ मानवात्मा स्वतंत्र और स्वच्छ होकर नम करता है। क्रीडा जगत् म जड जगत् एव नीति-जगत् का समन्वय है, यही सौन्दर्य का जगत् है। यही आनन्द का क्षण है। यही आत्मा मुक्त और क्रीडा ही मनुष्य का परमकृतव्य एव वास्तविक मनुष्यत्व है। तोत्त मानव व्यवहार को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखता है और वह भी उससे तीन क्षेत्र मानता है—(१) सत् लोक (Region of facts) (२) नियम-लोक (Region of laws) तथा (३) इष्ट-बुद्धि लोक (Regions of standards of values) वास्तव म ये तीनों एक ही हैं, केवल ताकिक विवचन व लिये पृथक् पृथक् मान लिये गये हैं। इनमें से सत् लोक म ही ऐसी इष्ट-बुद्धियाँ (Standards of values) रहती हैं जो सदाचार एव सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट नहीं जा सकती हैं। नियम-लोक गौण है और सत् लोक का एक साधन मात्र है। सत् लोक म ही ईश्वर ने इन तीनों का सम्मिलन और सामञ्जस्य स्थापित कर रखा है। इष्ट बुद्धियों साधनो एव अनिवाय नियमों के बीच जो एकता का प्रकाश या सौन्दर्य-सुपमा है वही सौन्दर्य है। नोत्ते के अनुसार सौन्दर्य सुख (Pleasure) का ही एक विकसित रूप है और उससे भिन्न नहीं है। दोनों म यदि कोई भेद है तो इतना ही कि सुख इन्द्रिय गोचर है तथा वह हमारी व्यक्तिगत आत्मा को आनन्दित करता है जबकि सौन्दर्य अन्तःकरण (Intuition) गम्य है और हमारी व्यापक (Universal) आत्मा को मुदित करता है। विकटर काउत्तिन मानव व्यवहार म सौन्दर्य सुख एव उपयोगिता का पृथक्-पृथक् अस्तित्व देखता है और अन्त म सौन्दर्य के

- १ भौतिक सौन्दर्य—जड वस्तु या भूति म यही सौन्दर्य है, इसका मूलाधार है भावो की अभिव्यक्ति। भौतिक सौन्दर्य वास्तव म स्वयं कुछ नहीं, वह तो किसी आभ्यतरिक सौन्दर्य की भौतिक अभिव्यक्ति मात्र है।
- २ नतिक सौन्दर्य—उक्त भौतिक सौन्दर्य जिस आभ्यतरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है वही आध्यात्मिक अथवा नतिक सौन्दर्य है।
- ३ मानसिक सौन्दर्य—उक्त दोनों सौन्दर्यों के मूल में मानसिक सौन्दर्य (Ideal or mental beauty) है। उक्त दोनों सौन्दर्य सापेक्षिक हैं परन्तु यह सुद्ध आत्यतिक सौन्दर्य है। यही ईश्वर है। काउत्तिन की भाँति ज्वायफे की सौन्दर्य

मीमांसा भी मानव-व्यवहार में सौन्दर्य, सुख एवं उपयोगिता की पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार करती है और सुन्दर, सुखद एवं उपयोगी को भिन्न भिन्न मानती है। सौन्दर्य किसी अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, वह शक्ति प्राकृतिक अथवा भौतिक उपकरणों द्वारा व्यक्त होती है। यह दृश्य जगत् वसन (वस्त्र) है, जिसको वह वासी (अदृश्य सत्ता) धारण किया हुआ है।

, सौन्दर्य मीमांसा की एक धारा मानसिक वृत्तियों या शक्तियों का आधार मानकर चली है। रीड के अनुसार ज्ञान शक्ति (Cognition) तथा इच्छा शक्ति (Affection) जो हमारे मन में हैं, वे वस्तुतः ईश्वरीय शक्तियाँ हैं और तत्त्वतः एवं मूलतः सुन्दर हैं। जो वस्तुएँ सुन्दर नहीं जाती हैं, उनमें इन्होंने ईश्वरीय शक्तियों की अभिव्यक्ति है। जिस वस्तु में यह अभिव्यक्ति जितनी अधिक होती है वह उतनी ही अधिक सुन्दर होती है। अतः रीड के अनुसार सौन्दर्य कोई वस्तुओं का गुण नहीं और न वह मानसिक वस्तु ही है। यह ईश्वरीय शक्ति है, जो अतः करण-गम्य है। काट मन की तीन शक्तियाँ मानता है, जिनके अनुसार दर्शन को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है—

- १ गुद बुद्धि मीमांसा (इच्छा शक्ति सम्बन्धी),
- २ व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा (ज्ञान शक्ति सम्बन्धी)
- ३ रश्मि मीमांसा (सुख-दुःख बोध सम्बन्धी)।

इनमें से तीसरे के अंतर्गत सौन्दर्य-मीमांसा आती है। सौन्दर्य का विवेचन करते हुए, काट ने उसके गुण, परिमाण, सम्बन्ध एवं प्रकार का वर्णन किया है। सौन्दर्य से गुद तथा निस्वार्थ भ्रान्त की प्राप्ति होती है। सौन्दर्य का भ्रान्त सावभौम होने से प्रत्येक द्रष्टा को सुन्दर वस्तु से भ्रान्त मिलता है, परन्तु हमारा सौन्दर्य-सम्बन्धी निष्पत्ति वैयक्तिक एवं एकाकी होता है। सुन्दर वस्तु का सम्बन्ध हमारे साथ स्वायत्त नहीं है, उसके विभिन्न भागों में जो परस्पर सम्बन्ध है, उसका एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य-सृजन है। सौन्दर्य सबको और अवश्य ही भ्रान्त देता है।

सम्भावना—उक्त सारी मध्यात्मवादी मीमांसा से सौन्दर्य के स्वरूप के विषय में यदि कोई महत्त्वपूर्ण बात पाती है तो यह कि वह वस्तु का धर्म नहीं है और उसकी प्राप्ति प्रमाता के अंतर्जगत् में ही हो सकती है। रस षष्ठाध्याय पण्डितराज जगन्नाथ के “लोकोत्तराह्लादजनकाननगोचरता” में भी यही सत्य निहित है। उनके अनुसार रमणीयता अथवा सुन्दरता लोकोत्तर

आह्लाद को उत्पन्न करती है और इसी आह्लाद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के गाँवर अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान को सौंदर्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में सौंदर्य एक ज्ञान विषय का प्रत्यक्षीकरण है—एक ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण जिसमें लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने की क्षमता हो। पण्डितराज के इस लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान' इतना अस्पष्ट एवं अनिश्चित है कि इसके अंतर्गत जहाँ प्रथम सौंदर्य, आत्यन्तिक सौंदर्य, शुद्धज्ञान आदि की उक्त ऐसी ही अस्पष्ट एवं अनिश्चित कल्पनाओं का समावेश हो सकता है, वहाँ उसमें सौंदर्य व 'गाइवत' एवं चिरनवीन' स्वरूप की और संकत करने वाली कवि कल्पनाओं के लिये भी स्थान मिल सकता है। यद्यपि ये सभी अध्यात्मवादी कल्पनाएँ सौंदर्य मीमांसा के क्षेत्र में सराहनीय प्रयत्न हैं, परंतु, यह मानना पड़गा कि इनमें कानिश्च इयत्ता एवं शास्त्रीय स्पष्टता का अभाव है। इसका कारण यह है कि इनके प्रेरक दृष्टिकोण 'यूनाधिक' एकांगी है।

दृष्टिकोण की एकांगिता ही उपयुक्त भौतिकवादी मीमांसा की असफलता का लिये उत्तरदायी है। जिस प्रकार उक्त 'लोकोत्तरवादी मीमांसकों' प्रमाता की ओर ही दृष्टि रखती हैं और विभाव' की ओर से विल्कुल मुख्य मोड़ लेती हैं उसी प्रकार उपयोगितावाद अथवा औचित्यवाद केवल विभाग को ही केन्द्र मान लेता है और प्रमाता को लगभग भुला ही देता है। यही नाच साहचर्यवाद एवं विकासवाद आदि के विषय में भी ठीक बटती है। ये मन यदि कभी विभाव से हटकर प्रमाता की ओर जात भी है तो भी उसके भौतिक रूप तक ही भौतिक के पीछे अध्यात्म की उन्हें कभी चिन्ता नहीं होती क्योंकि उनके अनुसार उसका अस्तित्व ही नहीं।

दोना प्रकार का एकांगीपन एक मूल तथ्य का तिरस्कार करता है। यह सबविहित बात है कि सौंदर्यानुभूति के व्यापार में प्रमाता एवं विभाव दोनों का कुछ न कुछ हाथ है, उक्त एकांगीपन इसको भूल जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि मनुष्य न तो केवल तन ही है और न केवल मन ही—वह तन और मन दोनों का सघात है यदि एक शब्द में उसे व्यक्त करना चाहे तो हम तन मन अथवा और आग जाय तो जड़ चतय अथवा 'रीर आत्मा' कह सकते हैं। प्रमाता एवं विभाव के महत्त्व तथा मनुष्य के अस्तित्व को सम्यक रूप से समझ बिना सौंदर्य मीमांसा सदा एकांगी और

1 A thing of beauty is a joy for ever

2 छये छये यनकता निने त न रूप नमणीयताया ।

अचूरी रहगी । अतएव यह कहना अनुचित न हागा कि आधुनिक युग विज्ञान-प्रधान होते हुए भी सौन्दर्य की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय मीमांसा में अममय तथा असफल ही रहा है । परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वैदिक साहित्य में इस एकाकीपन का सबका परित्याग करके सौन्दर्य मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है ।



वैदिक दृष्टि

सौन्दर्य के विषय में वैदिक दृष्टि का आधार अथर्व स्वभाविक लगता है। यद्यपि प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में सुन्दर मींदय आदि शब्दों का प्रयोग भी नहीं हुआ है परन्तु वहाँ आनन्द नन्द मोद आमोद मुद प्रमुद, प्रिय आदि शब्दों द्वारा जिम अनुभूति की ओर संकेत किया गया है वह वस्तुतः वही आनन्दानुभूति है जिसे हम सौंदर्यानुभूति मानते आये हैं। अथर्ववेद^१ के अनुसार मानव शरीर आठ चक्रों एवं नव द्वारों से युक्त अयोध्या नामक देवपुर है और और इसी पुर में वास करने से आत्मा पुरुष कहलाता^२ है। इसी अयोध्या नामक देवपुर के भीतर हिरण्य^३ कोश है जिसको ज्योति से आवृत स्वर्ग, अमृत से आवृत ब्रह्मपुरी अथवा ब्रह्म की अपराजिता हिरण्ययी पुरी भी बताया गया है। यहाँ स्वर्ग अथवा ब्रह्मपुरी उस आनन्दोदादि का स्रोत है जिसके विषय में अथर्ववेद^४ १० २ ६ में प्रश्न किया गया कि पुरुष आनन्दोदा और नन्दो को वहाँ से लाता है ? इस अमृत से आवृत ब्रह्मपुरी की तुलना ऋग्वेद^५ के उस अमृत लोक से की जा सकती है जहाँ भी इसी प्रकार अजस्र ज्योति के साथ माध आनन्द मोद मुद प्रमुद तृप्ति आदि का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इससे

-
- १ अथर्ववेद नवद्वारा देवाना पूरयो वा (१०,२,३१)
 - २ पुर यो ब्रह्मणो वत् यस्या पुरुष उच्यते (१०,२,२८)
 - ३ तस्या हिरण्ययो कोश स्वर्गो ज्योतिषावत् (१०, २, २१)
 - ४ यो वै ता ब्रह्मणा वेदानृतेनावता पुरम् (१० २ २६)
 - ५ पुर हिरण्ययी ब्रह्मा विवेशापराजिताम् (१०,२,३३)
 - ६ आनन्दानुभूयो नन्दाश्च करमात् वदति पुरुष ।
 - ७ ६ ११३,७ ११ ।

स्पष्ट है कि वदा व अनुसार अथाध्या स्त्री मानव शरीर का हिरण्यकोण ही उमका आनन्दमय स्तर है ।

हिरण्यकांग स प्रवाहित होन वाला आनन्द मानव शरीर क एक दूसरे स्तर पर पहुचकर, मूर्धान्तत्व (ज्ञान) मिश्रित हृदयतत्त्व हो जाता है—इसी स्तर का अथववद म अथाध्या का देवकोण कहा गया जिसकी रक्षा करन के लिए मन प्राण तथा अन्न नामक तीन अय बोगा की कल्पना की गई है —

मूर्धान्तस्य ससौव्याथर्वा हृदय च यत् ।

मस्तिष्वाद्भ्रुव प्ररयत् पवमानोधि गोपत ।

तदवा अथवण गिरो देवकोश समुञ्जित ।

तत् प्राणो अभिरक्षति गिरो अन्नमयो मन (१० २ २६ २७)

पाचवा पुग्प आनन्दमय

अथववद म वर्णित उक्त पच कागा का निरूपण कुछ विस्तार के साथ तत्तिरीयोपनिषद की ब्रह्मानन्दवल्ली म दखा जा सकता है । दाना म मुख्य अन्तर कवन तना है कि जहा अथववद अथाध्या स्त्री मानव शरीर के पाचों कागा म एक ही पुग्प की कल्पना की गई है वहा तत्तिरीयोपनिषद म उक्त पाचवा कागा को पाच पुग्पा क रूप म माना गया है और उन पाचवा की एकता तथा अभिन्नता जनान क लिए अन्नमय म लेकर आनन्दमय तक प्रत्यक परवर्ती पुग्प को अपन पूर्ववर्ती का आत्मा बनलाया गया है । इसके अनिरिक्त अथववतीय पच कागों म स अन्न को अन्नरसमय तथा देवकोण और हिरण्यकांग का अन्न त्रिजानमय तथा आनन्दमय नाम दिया गया है । इन सब के स्वरूप और पारम्परिक सम्प्रथ का समझन क लिए सभ्येप म उनम मे प्रत्यक का कुछ विरचन यहा किया जाता है —

१ अन्नम म पहला पुग्प ता यही अन्नरसमय (हाड मान का बना स्थूल शरीर) है—स वा एष पुरयोऽन्नरसमय । तस्येदमेव गिर । अय दक्षिण पक्ष । अयमुत्तर पक्ष । अयमात्मा । इद पुच्छ प्रतिष्ठा (त० उ० २,२)—इमका गिर, इमका दक्षिण अथवा उत्तर पक्ष, इमका भीतर और बाहर मभी कुछ स्थूल एव हाड-मांस म बना शरीर है ।

२ उक्त अन्नरसमय पुग्प क अनिरिक्त एक भीतरी आत्मा दूसरा है जा प्राणमय है और जिमक द्वारा अन्नरसमय पुरप पूण हा रहा है—एतस्मादन्नरसमयान् अयोत्तर आत्मा प्राणमय । तेनय पूण । तस्य प्राण एव गिर । ध्यानो दक्षिण पक्ष । अपान उत्तरपक्ष । आकाश आत्मा । पृथिवी

पुच्छ प्रतिष्ठा (त०उ०२,)—अनरममय पुरुष व विविध अंगों में जो शक्तियाँ काम कर रहीं हैं व वस्तुतः प्राण की शक्तियाँ हैं। अतः अनरममय पुरुष में व्याप्त हृद्मा भीतरी आत्मा प्राणमय पुरुष बताया गया है, जिसके शिर दक्षिण पक्ष उत्तर पक्ष आदि सभी अंग विविध प्राण ही हैं। प्राणमय पुरुष व भीतरी आत्मा का अवश्य प्राणों की अंगों अधिक सूक्ष्म तत्त्व मानना पड़गा। अतः उक्त मनामय आकाशतत्त्व कहा गया है जब कि अनरममय व स्थल पृथ्वी-तत्त्व का प्राणमय पुरुष की पुच्छ प्रतिष्ठा बनलाया गया है क्योंकि वृत्त दाना व बिना तो वह रह ही नहीं सकता और न काम ही कर सकता है। प्राणमय पुरुष का ज्ञान हाल ही काम से काम इतना ही समझ में आ ही सकता है कि प्राण ही आत्मा है, जिसकी शक्ति या वाक्य स्वतंत्र वाचा चेतन आदि अनेक रूपा में व्यक्त होती है। प्राण का पति और वाक्य या शक्ति को उसकी पत्नी मान लें तो हम यह कह सकते हैं कि हम अवस्था पर दोनो एक दूसरे में पूर्णतया अलग जाते जा सकते हैं—एक तो शरीर व प्राण रूप में और दूसरे पारोक्षिक रूप या आचरण व रूप में।

३ प्राणमय व भीतर रहने वाला मनामय आत्मा हा तीसरा पुरुष है जिसके द्वारा प्राणमय परिपूर्ण हो रहा है —

“तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयान् अयो तर आत्मा मनामय तेनैव पूण — तस्य यजुरेव शिर । अग्न दक्षिण पक्ष । सामोत्तर पक्ष । आदेश आत्मा । अथर्वागिरस पुच्छ प्रतिष्ठा ।”

प्राणमय व संचलन पर सूक्ष्म चिंतन करने से यह सहज ही पता चल जाता है कि हमारे नाना प्राणों का संचालन और नियंत्रण करने वाला तत्त्व प्राण से अलग और कोई है। आज का शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान भी यह बात मानते हैं कि ज्ञान वस्तुओं और मज्जा-तंतुओं में प्रवाहित होने वाली शक्ति व बिना प्राणमय काण का भाँ सारा काम बंद हो जायगा। यही शक्ति मनामय पुरुष की है। इसकी कुल तीन शक्तियाँ हैं — ज्ञान शक्ति और इच्छा, जिनका वद में अमल यजु ऋक और साम कहा गया है। इन तीनों का यहाँ मनामय का अमल शिर दक्षिणपक्ष और उत्तरपक्ष कहा गया है, परंतु जिस प्रकार शिर और दोनो पक्षों का आधार पुच्छस्थान होता है उसी प्रकार इन तीनों शक्तियों का आधार पराशक्ति है—उसके बिना इसमें किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसी पराशक्ति का ब्रह्म भाषा में अथर्वागिरस कहा गया है क्योंकि जसा अयन कहा गया है, पराशक्ति सभी अंगों का शक्तियों का सार होने व कारण अथर्वागिरस तथा मनामय आदि

नीचे के मोशा में जाना आरम्भ करने के कारण 'अथ अवाक' या अथवा कहलाती है। इनका एक नाम 'अद्धा भी कटाचित खट्टू (नीचे की ओर जाने वाली), शृद्ध (निष्कामिता) आदि गन्ता की भाँति इसी प्रकार का अथ रक्वता था। या तो अद्धा गन्ता 'अत्' और 'धा स निकला है' जिसमें अत् का अथ गतिशील अथवा मुक्व प्रतीत होता है, अत् इद्र' की गति का भी नाम है, जो न केवल हमारी इन्द्रिया का काम करती है, अपितु मनोमय का प्रथम रूप भी 'मी स उपन होता है। परागक्ति को अद्धा (अन धारण करने वाली) कहना ठीक ही है क्योंकि 'परा' हमारी गकिनया का बीज है। अत् अ० वे० १० १५१ म अद्धा स अत् प्रान कराने क लिय प्राथना की गई' है।

परन्तु अद्धा, ज्ञान त्रिया अथवा साम यजु ऋक गक्तियों का प्रेरक कौन है? मनामय पुरुष विमक द्वारा मचालित होता है? वतमान प्रयोगात्मक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि वह 'मनोमय से परे कोई अथ तत्व मानव गरीर म नहीं मानता, परन्तु यदि हम एकाग्रचित्त होकर सोचें कि अमुक परिस्थिति विनाप म अमुक भाव या विचार कस ओर कहीं से उठ गये हूँ ता हम पता लगगा कि पहले हमारे भीतर एक लहर सी अथवा महात्माआ क गन्ता म एक पुकार' सी आती है, जो हमारे मन क भीतर विचार भाव या त्रिया का प्रेरित करन वाली वृत्ति को जगा देती है। इसी को अतरामा की पुकार' या आदग कहन हैं। इसी का मनामय का आत्मा कहा गया है यही विज्ञानमय पुरुष है जिसको अथववद म देवकीग भी कहा गया है।

४ मनोमय क भीतर रहन वाला आत्मा ही बीया पुरुष विज्ञानमय है —
एतरमा मनोमयात् अयोऽतर आत्मा विज्ञानमय । तेनय पूण तस्य अद्ध व शिर । अत् दग्ण पक्ष । सत्यमुत्तरपक्ष । योग आत्मा । मह पुच्छ प्रतिष्ठा ।

इस विज्ञानमय पुरुष क दग्णिण और उत्तर पक्ष अमग सत्य तथा अत् यनाय गय हैं। इन दोनों गन्ता क प्रचलित अथ अस्यत्त आमक हैं, यहाँ उनसे

१ अ० वे० १ ५५ १ १०३,५ १०४ ७, ०,१०,१ ८ ७५ ०, १०,२६,५ १४ ७, १,१५१,५ ।

२ तुजना करिय अ० वे० ८ ७५ ०

३ अ० वे० १ १०३ १ ५५ ५, १० १४७ १ ।

४ अ० वे० अद्धे अद्धागवन् न १०,१५१,५

काम नहीं कर सकता। उपनिषद् में लिखा है कि सत्य गद्य से कवन से और यही सत्य के द्योतक है और दाना के बीच का वृक्ष अन्नत का वाचक है। इमम स्पष्ट है कि सत्य का अर्थ प्रचलित अर्थ से विपरीत अनुत्पन्न सत्य भी हो सकता है।

वस्तुतः सत्य और ऋत का जोड़ा आध्यात्मिक प्रमगो म प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ रखता है। इनका अर्थ प्रमग सत्व (being) और भाव (becoming) अथवा सत्ता और विकृति किया जा सकता है। पहला स्थिरता या निश्चिन्मता का सूत्रक है दूसरा परिवर्तन या विचार का। नाम रूपात्मक जगत् में ये दोनों सत्व गुणपरिण रूपा में हो गिगत है न यहाँ सत्व (being) ही आत्यन्तिक है और न भाव (becoming) ही। अत आदित्य का सत्य तथा अग्नि को ऋत कहा जाता है। परन्तु अग्नि तथा उमक प्रकाश में अग्नि को सत्य तथा प्रकाश को ऋत कहा जाता है। उमी प्रकार यन्त्रि सृष्टि या उमकी उपकरणभूत वाक् को ऋत कहा जाता है ता स्रष्टा का सत्य कहा जाता है। या सत्यमय माना जाता है परन्तु वही स्रष्टा ऋत कहा जाता है जब उमकी तुलना ब्रह्म में की जाता है। एम ही स्थूल शरीर की अपार विकारशीलता का देवकर ऋत तथा बीय प्राण नाम रूप आदि का सत्य कहा जाता है।

इस विवचन से यह सिद्ध है कि ऋत सत्व विकार परिवर्तन या गति वाची भाव गद्य का पर्याय है और सत्य गद्य से सत्व के अतमम उम स्थिरता या अगति का बोध हाता है जिससे ऋत या भाव की गति अथवा विकृति का सूत्रपात हाता है। अत ऋत या भाव (becoming) को यथाथ म, गतिशील या विकृतिमय सत्व (being) कहा जा सकता है। इमी दृष्टिपाण से सत्य और ऋत को एक ही कहा जा सकता है। प्राणमय तथा अन्नमय में ऋत या भाव का इतना अधिकार रहता है कि उमके कारण एकात्मिक सत्य

१ व उ ३ १ २ १ ३ ३।

२ अथ वाऽग्नि जतमसावादि य मयम्। यन्त्रि भासा ऋतमय (अग्नि) मयम्। श वा

३ ४ ४ तुलना कीजिए, राज म १० ४७ नैत० मा २ १ ११ १० ३ १० ३ ३।

३ श मा १६ ० ४ १ ० १ ४ १०

४ देव मा २ ६ गो म २ ३ २

५ श मा ४ १ ४ १०

६ श मा ० ६ ३ ४ १ ४, ५, १, २५ तै मा ३ ३ ४ ४ तुलना करो, गोप मा २ ०

२३, श मा १ ४ ६ ४ ३

का आभाम भी नहीं मिल पाता। पर तु विनानमय म आकर ऋत 'म् अर्थात् मुप्त' हो जाता है। इसीलिए, इस अवस्था में ऋत का मृत (म्+ऋत) कहा जाता है। जब ऋत और सत्य का तादात्म्य हो जाता है, तो मुप्त सत्य (मृत) भी नहीं रह जाता, अतः उसका नाम अमृत (अ—म्—ऋत) हो जाता है।

अतएव विनानमय पुरुष व वणन म श्रद्धा का उमका गिर तथा ऋत और सत्य को दो पक्ष कहन स यही अभिप्राय है कि विनानमयकोश की पराशक्ति म मनोमय आदि कोशों के 'अन' (शक्ति) का बीज और उसम भाव (becoming) तथा सत्व (being) के तत्त्व विद्यमान है। परंतु यह श्रद्धा जिस अत का बीज है, वह इच्छा ज्ञान, क्रिया भेद से तीन प्रकार का है अतः इसका स्वरूप क्या होगा? आगमग्रन्थों म 'परा का वणन करत हुए प्रायः कहा जाता है कि उमम इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ उमी प्रकार एकीभूत तथा अव्याकृत रूप म रहती हैं जस मयूराण्डरस में मयूर के विभिन्न रंग आदि। इसी बात को व्यक्त करने के लिए उक्त वणन म विनानमय पुरुष की आत्मा को योग बताया गया है। हमारी जो आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों म मानो विभिन्न शक्तियों के रूप म त्रिखरी सी रहती है, वही विनानमय कोश में एकत्र और एकीभूत होकर 'योग' कहलाती है। विभिन्न इंद्रियों म विभक्त इंद्र यहाँ पर 'योग हो जाता है।' यह हमारी सभी भौतिक वृत्तियों का, ऋत का, और अमृत का योग है। यही पर ऋक यजु तथा साम शक्तियाँ मिलती हैं अतः इस 'छन्दसा योग' भी कहा गया है जिसको जानना अतिवठिन है। परंतु इसको जानना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना 'यन्' मिद्ध नहीं होता। और जो अनुमान ब्राह्मण इस योग को जान लेता है 'मुक्त हो जाता है उस फिर यजमान कहलान की, यज्ञ करने की अपेक्षा नहीं रह जाती।' इसी का 'जिष्णु-योग' भी कहा जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिए शरीरस्थ सभी इंद्र-

१ मुप्त—स्थान प्राप्ति मकाररत्नीया मात्रा मितैरपीतवा भाष्य उप १११

२ ऋ वे १५३ अ वे १०५ १६ २० ६६ १

३ ऋ. वे १२० ७

४ वही १० ३० ११

५ , ३२७ ११

६ ,, १० ११४ ६

७ ,, ८ ७

८ ,, ८ ५८ १०

शक्तियाँ को युक्त करने का यत्न आवश्यक है ।'

यह योग आत्मा यथाथ म 'आनन्दमय होता है इमीलिय विज्ञानमय पुरुष की पुच्छप्रतिष्ठा मह बतलाई गई है और 'मह का साधारण अथ ज्योति या आनन्द हाता है। जिस मह का उक्त पुरुष की प्रतिष्ठा कहा गया है, उसका वास्तविक नाम ज्येष्ठ मह है जो श्रुत की अनन्त धाराओं का मूल स्रोत है' जो विभिन्न इंद्रिय विभेदा म काम करने वाले ऋद्र का साधारणीकृत रूप है' और जो ऋद्र व सदन म वृद्धि को प्राप्त करने वाला सोम का मह' है। यही सौन्दर्यानुभूति की वह अवस्था है जिसे रमणास्त्रिया ने मधुमती भूमिका या साधारणीकरण की अवस्था कहा है और जो मविकल्पक ममाधि व समवक्ष है। इसी मह' या आनन्द का दूसरा नाम प्रिय भी है जिसका उदय उक्त श्रद्धा व विना नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा स इसका उदय व लिए प्राथना की जाती है—

प्रिय श्रद्धे ददन प्रिय श्रद्धे दिदासत ।

प्रिय भोजपु यच्चस्विद मउदित कृषि ।

अतः विज्ञानमय पुरुष व आधार (प्रतिष्ठा) को मह, प्रिय या आनन्दमय कहा जा सकता है—

५ विज्ञानमय पुरुष के भीतर रहने वाला आनन्दमय पाँचवाँ पुरुष है—

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अयोऽन्तर आत्मानन्दमय तेनप पूण । प्रिय मस्य गिर । आमोदो दक्षिण पक्ष । प्रमोदो उत्तर पक्ष । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा ।

इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आनन्दमय पुरुष वही याग है जो विज्ञानमय का आत्मा कहा जा चुका है और इसका शिर वही प्रिय या मह है जो उसकी पुच्छप्रतिष्ठा कहा गया है। जसा ऊपर दख चुके हैं याग तथा प्रिय दोनों म एकमात्र आनन्द की अनुभूति रहती है। आनन्दमय पुरुष व दोनों पक्ष आनन्दवाची आमोद प्रमोद हैं और उसमें रमने वाला आत्मा भी आनन्द है। अतः आनन्दमय पुरुष को ब्रह्म कहने से बवल यही अर्थ हो सकता है कि आनन्दस्वरूप 'पुच्छप्रतिष्ठा को ब्रह्म कहने से बवल यही अर्थ हो सकता है कि आनन्दस्वरूप

१ अ वे १०५६

२ ऋ व ७४३४

३ वही ८ ६५४७

४ वही ६ ३१ ३ १० ४३ ७

५ देविय सौन्दर्यानुभूति

पुरुष का आधार ब्रह्म ही है। 'हिरण्यकोश' व बणन म हम देख चुकें हैं कि यह आनन्दमय ज्योतिमय है। यही वह स्वर्ग है जहाँ अमृत ज्योति का उल्लस किया गया है। विज्ञानमयकोश म यही ज्योति ऋन व मयोग स मृत गतिवती या विकृतिमयी हा जाती है, इसीलिए पराशक्ति या श्रद्धा का त (विकृति मयी मा गतिवती) म (ज्योति) कहा जा सकता है। अतः सत्य श्रद्धा म युक्त विज्ञानमय का शरीर अमश सत्व भाव (रज) तथा तम से युक्त कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण स 'परा को दाना म मत्व रज तम गुणो से युक्त प्रकृति कहा गया है। परन्तु उपयुक्त व अनुभार प्रकृति व उक्त तीन गुण भी आनन्दमय म अमग प्रिय आमोद तथा प्रमोद म परिवर्तित हा जात हैं जिसस कि वह बवल आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है।

परमानन्द, आत्मानन्द और आनन्द

पाच कोश तथा उनम रमन वाले पाच पुरुषो व उपयुक्त बणन स यह मली भाति स्पष्ट हा सकता है कि उक्त पाच कोश वस्तुतः एक ही मानवीय व्यक्तित्व व पाँच स्तर हैं और उक्त पाच पुरुष भी एक ही आत्मा व कोशभेद पर आधारित पाच नाम हैं। पाचा कोशा का पुण्य यथाथ म एक आत्मा है यद्यपि प्रत्येक कोश म उमका और स्वरूप शिवाट पटता है। इस पुरुष की उपमा एक एम व्यक्ति स द मकन हैं जिसक चारा ओर एक एक करक शीगे क विभिन्न रगवाल पाच घर हा। जिस प्रकार उन व्यक्ति का स्वरूप हर एक शीगे स एक निराले ढग का ही दिक्खाइ पटगा उमी प्रकार एक ही पुरुष विभिन्न कोशा म अलग अलग ढग का प्रतीत हाता है।

एक दूगरी दृष्टि म उक्त पचविध आत्मा की त्रिविध रूप म भी कल्पना की गई है। इन तीना क नाम^१ अमग सम्राज, स्वराज एव विराज कह गए हैं और जिनको आनन्द व मन्दभ म परमानन्द, आत्मानन्द एव विविधानन्द कहा जा सकता है। राज् दीप्तो स निष्पन्न उक्त तीनों नामो का अथ अमग (१) सम्पूर्ण अथवा सम्यक् रूप स प्रकाशित (२) स्वरूप म प्रकाशित तथा (३) विविध रूप म प्रकाशित प्रतीत होता है। ऊपर जिन हिरण्यकोश, ब्रह्म पुरो या आनन्दमय कहा गया है वृहदारण्यक^२ उपनिषद म वही सम्राज है जिन का आत्मा का परमानन्द परमलोक, परमगति तथा परम सपदा भी कहा गया है। जिन ऊपर देवकोश या विज्ञानमय पुरुष कहा गया है वही इस अमग म

१ वे० २० पु० ४६ ५६

२ ४ ३, ३१ ३२

स्वराज है जा विजानन् आत्मरति आत्मश्रीड आत्ममिथुन एव आत्मानन्द' कहलाता है। एसी प्रकार मनामय का कवल आनन्द कहा गया है क्योंकि मन ही आनन्दता है जिसका कारण ही सोना हुआ ध्यक्ति म्वप्न म जागृति अवस्था व गार आनन्दो मोदा और प्रमोटा की रचना कर लता है। अत आनन्दमय व परमानन्द और विज्ञानमय व आत्मानन्द का मनामय म कवल आनन्द कहन का अभिप्राय यही है कि मनोमय ही स्थूल देह के आनन्द मोद तथा प्रमाद की विविधता का कारण है। अत इसी विराज (मनोमय) व अ नगत प्राणमय^१ के प्रियम् तथा अन्तमय व सुखम् नामक आनन्दों की अनकता को भी रग्य सकत है। दूपरे गङ्गा म अथववद ने जिस हिरण्यकोण का ऊपर अमून म आवृत्त स्वग या ज्योति से आवन ब्रह्मपुरी कहा है उमी आनन्दमय पुरम् का परमानन्द ही विज्ञानमय के आत्मानन्द तथा मनोमय आदि के विविध आनन्दों का स्त्रान है। आनन्दानुभूतियों के इम परम स्रोत परमानन्द की तुलना विष्णु व उस परम पद म भी की जा सकती है जिसम मधु का उरम बताया जाता है और जिसको उक्त परमानन्द या ब्रह्मपुरी की भाति कवल ब्रह्मवत्ता खोग ही जानन म ममथ हा पात है। इस प्रमग म यह भी ध्यान दन याग्य है कि उक्त परमानन्द आत्मानन्द तथा आनन्द व विविध स्थानों की भाति विष्णु व भी तीन पत्^२ हैं जा ताना ही मधु स पूण वतलाये जात हैं। यह मधु निस्सदेह उक्त आनन्द ही है।

आनन्द का स्वरूप

दत्तिक साहित्य म एस आनन्द क स्वरूप का भी आवन का प्रयत्न किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद म मनुष्य नोक स लकर ब्रह्मलोक तक व आनन्द का निरूपण इस प्रकार किया गया है— जो मनुष्या म सब अगा स पूण समृद्ध दूमरा का अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोगमामग्रिया मे सवाधिक सम्प न होता है उमका सुख मनुष्य का परमानन्द है। इन प्रकार क मी मनुष्या-नन्द पितृगण के एक आनन्द के समान तथा पितरो क सौ आनन्द गधवों के एक आनन्द व समान हैं। गधवलोक व सौ आनन्द मिलकर कमदवा के एक

१ बृ० उ० ४ १, ६

२ ही, ४ ३, १०

३ बही, ४ १, ३

४ विष्णो पदे परम मध्व उत्तम (ऋ० वे १ १५, ५)

५ यत्य श्री पूषा मधुना पत्नानि अक्षीयमाथा स्वयया मदननि (ऋ० वे० १, १५६ ४)

आनन्द की एक कमदेवी के सौ आनन्द आजानन्देवा के एक आनन्द की समता करत है। आजानन्दवा का सौ गुना प्रजापति लोक का आनन्द और उसका सौ गुना ब्रह्म लोक का आनन्द है। यही परमानन्द है यही ब्रह्मलोक है।”

लगभग यही आनन्द मामासा कुछ हर फेर के साथ तत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में देखी जा सकती है—सपाऽऽनन्दस्य मीमासा भवति। युवा स्यात् साधु युवा अध्यायक आशिष्ठो द्रष्टिष्ठो बलिष्ठस्तस्यय पृथिवी सर्वा विसृज्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्द। तय शत मानुषा आनन्दा। स एको मनुष्यगर्घवाणामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये गत मनुष्यगर्घवाणामानन्दा। स एको देवगर्घवाणामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय गत देवगर्घवाणामानन्दा। स एक पितृणा चिरलोकानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय गत पितृणा चिरलोकलोकानामानन्दा। स एक आजानजाना देवानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय शतमाजानजाना देवानामानन्दा। स एक कमदेवाना देवानामानन्द। य कमणा देवानपियति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय शत कमदेवानामानन्दा स एक दद्रस्मानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते य शतमिद्रस्यान्दा स एका बृहस्पतेरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय शत बृहस्पतेरानन्दा। स एक प्रजापतेरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। तय शत प्रजापतेरानन्दा स एको ब्रह्मण आनन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात्—यह आनन्दसम्बन्धी मीमासा है। साधु धदाध्यायी मुक्षामक ऋ-अगवान् तथा बलवान् युवक को यह धनपूण समस्त पृथिवी प्राप्त हो जाय तो यह ही मानवलाक का सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। जो मनुष्य सम्बन्धी सौ आनन्द है वही मनुष्यगर्घवों का एक आनन्द होता है किन्तु इन सबसे अधिक विरक्त वदन पुरुष को स्वाभाविक आनन्द प्राप्त है। मनुष्यगर्घवों के सौ आनन्दों को तुलना में देवगर्घवों का एक आनन्द है—वह भी कामनाघात ऊपर उठे हुए वदन का स्वभावतः प्राप्त है। देवजातीयगर्घवों के गत आनन्द पितृलोक के एक आनन्द के तुल्य है और वह भी भोग के प्रति निष्काम वेदन पुरुष को निसर्गत प्राप्त है। इसी प्रकार पितरों के जो ये सौ आनन्द हैं वे आजानज नामक देवताघात का एक आनन्द है और वह भी निष्काम वेदन पुरुष को स्वतः प्राप्त है। गत आजानज देवों के आनन्द की अपेक्षा कमदेवा का एक आनन्द अधिक है जा कि वदोक्त कर्मों से देवभाव को प्राप्त देवों को प्राप्त है वह भी लौकिक भागलिप्सा में दूर श्रोत्रिय के पास है। इन कमदेवताघात के सौ आनन्द के समान स्थायीदेवों का एक आनन्द है और वह भी श्रोत्रिय को

प्राप्त है। दवताओं के सौ आनन्द म इंद्र का एक आनन्द बटकर है, यह आनन्द इंद्र के भोगों की कामना से रहित मनुष्य को स्वतः प्राप्त है। सौ प्रकार इंद्र के आनन्द से बृहस्पति का आनन्द भ्रष्ट है। बृहस्पति के आनन्द की अपेक्षा प्रजापति का आनन्द सौगुण्य है। और प्रजापति के आनन्द से बढ़कर ब्रह्मा का एक आनन्द है वह भी ब्रह्मतोकादि के भागों में निहित श्रियों की स्वभावतः प्राप्त है।

परमानन्द से आनन्दविविध्य तक

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि बदिन दृष्टि में हिरण्यकोण (ब्रह्मपुरी) का परमानन्द ही मनोमय से अन्नमय तक विविध आनन्दों के रूप में व्यक्त होता है। मुद्गल^१ उपनिषद् में हिरण्यकोण का हिरण्यकोण, दिव्य ब्रह्मपुर, व्योम कहा गया है जिसमें आत्मा या निष्कल ब्रह्म की स्थिति मानी गई है। यह आत्मा आनन्दरूप है, अमृत है जिसका पाप विनाशमय कोण की सहायता से हो सकता है। यही आनन्दस्वरूप अमृत आत्मा मनोमयरूप होकर प्राणमयकोण के द्वारा अन्नमयकोण में हृदय का सनिधान बनाकर नाना प्रकार के सुखा प्रमादा आनामा और आनन्द बिन्दुओं की प्रियता के रूप में प्रकट होता है —

मनोमय प्राणशरीरमेता प्रतिष्ठितोऽने हृदय सनिधाय
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति

(मु० उ० २,७)

सौ आनन्दमय आत्मा को भीतर-बाह्य सबत्र प्राप्त दिव्य अमृत पुरुष अज तथा अक्षर बताया गया है जिसमें मनोमय से लेकर अन्नमय तक विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होकर उसी में उसी प्रकार लय हो जाते हैं जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से सहस्रो सहस्र चिनभारियाँ। यह निष्कल ब्रह्म या आत्मा यद्यपि स्वयं अप्राण अमन तथा शुभ्र है परन्तु इसी में प्राण, मन एवं इन्द्रियाँ की उत्त

१ त्रिभ्यो ब्रह्मपुर क्षेप व्योम-आत्मा प्रतिष्ठित (२-१)

हिरण्यमे परं कोश विरज ब्रह्म निष्कलम् (२-६)

२ तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद्विभाति (२-७)

३ तन्मन्त्रेण यथा मुनिप्राप्ता पावकाद्विरफुलिङ्गा सा सदस्यश प्रभवन्ते सरूपा तथाशरादिविधा साम्यभावा प्रनायन्त तत्र वैवापयन्ति ॥

मृष्टि होती है !^१ इसी म मूघातत्व क रूप म अग्नि तथा हृदयरूप मे विरव, चक्षुषा क रूप म चन्द्रमूय, आत्रा क रूप म दिगार्ये तथा प्राण क रूप म वायु मानवशरीर म उत्पन्^२ हाता है । मूघा एव हृदय अग्नि तथा सूर्य आत्ति क इस आदिस्तोत आत्मा का सोम नाम भी िया गया प्रतीत हाता है । र्म दृष्टि स मूघा एव हृदय स सम्बन्धित सोम नामक आत्मा की तुलना अथववद^३ क उम अथवा पवमान^४ म भी की जा मक्ती है जा मानवशरीर म मूघा एव हृदय का एक साथ सीकर (ममीव्य) मस्तिष्क या गोप से प्रेरित करने वाला कहा गया है क्वाकि पवमान निस्मन्ह माम वा ही एक नाम है । र्म प्रसग म यह भी याद रखना है कि जिम प्रकार शरीर क भीतर मुडक उपनिपद म अग्नि आत्ति की उत्पत्ति इसी आत्मा या ब्रह्म से मानी गइ है उभी प्रकार उक्त अथववद क प्रसग म भी । मानव शरीर म स्थित यह सोम पवमान नामक आत्मा ही सैत्तरीय उपनिपद^५ म सम्भवन वह ङ्गपवित्र मु अमृतम् है जा शरीररूपी वृष का प्ररक माना जा मक्ता है क्वाकि हिरण्यय आनन्दमय काण क परमानन्द का गुड अमृता या आनन्द माना गया है ता प्राणमय तथा आनमय क आनन्द विदुषा को दुखमित्रित हान से अगुड माना जायगा, और नमाधि की अवस्था म अगुड आनन्द विदुषा का मनामय द्वारा विनानमय क पवित्र (छलनी) म पवन (छनना) हाता है , अत इस पवन (छनने) क्रिया वाल हिरण्यय क आनन्द का पवमान (छननवाला) कहना उपयुक्त ही है । वत्कि दृष्टि म आनमयकाण अधाभाग है और विनानमयकाण ऊव है, अत विनानमय रूपी पवित्र म पवनगील आनन्द का ङ्गपवित्र कहना ममीचीन हा मक्ता है ।



१ िव्यो अमृतो पुग्ग मवाशाभ्यन्तरो ह्यत ।

अमाणा ह्यनना शुभो ह्यउरापरत र ॥

णरमाणावत प्राणा मन मरेन्द्रियाणि च (मु० उ० १,२ ३)

२ अग्निमूघा चक्षुषा चन्द्रमूयो दिरा आने वागिववदारच वेत्ता ।

वायु प्राणो हृदय विरवमन्य पद्मया पृथिवी क्षेप सवभूतान्तरात्मा । (मु० उ० ३० १, २ ३)

३ तरमाग्नि मनिषो यग्य गृव सामापरन्थ ओपनाय पृथिव्या (मु० उ० ३० १, ५)

४ १०, २ २६

४

वैदिक सोम

पिछले अध्याय में आनन्द की भीमासा करत हुए हमने देखा कि आनन्द को सोम पवमान की भी सत्ता दी गई है। और अथर्ववेद (१०२१६) के अनुसार यज्ञ श्रद्धा और मन के साथ सोम भी मनुष्य के भीतर है। इस बात को स्वीकार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि वैदिक सोम के स्वरूप के साथ उसकी सगति देखने का प्रयत्न किया जाय। वैदिक सोम को महर्षि अरविन्द ने अमृत और आनन्द रूपी मदिरा का स्वामी कहा है। ऋग्वेद के नवम मण्डल के सूक्त मन्वा ८२ में सोम के पवित्र को स्पष्टतः मानवगरीभ में वितत माना गया है जिससे पूत होकर वह सबत्र जिम्बिन अगो में व्याप्त होता है (पवित्र तो वितत ब्रह्मणस्पतः प्रभुर्गात्राणि पर्येपि दिश्वत्)। इसी सूक्त पर विचार करत हुए स्वर्गीय अरविन्द ने सोम के विषय में कहा है कि— 'यह तज और आग्नेय मदिरा छाने जान की अपक्षा रखती है और इसकी छत्रा दिवस्पद में वितत बटाई गई है (तपोपवित्र वितत दिवस्पद) उसका तत्त्व शुद्ध प्रकाश के हैं जो कि किरणों के समान स्थित होते हैं। इन तत्त्वों के द्वारा वह दिव्य मदिरा धारा के रूप में बहती है। यह चित्त स्पष्टतः मानसिक तथा भावात्मक चेतना अथवा सचेतन हृदय (चेतस) की ओर सकेत करता है, जिसके विचार और भावों को तत्त्व कहा गया है। उस शुद्ध मनस तत्त्व को जिसपर चित्त तत्त्वों अथवा शरीर की प्रतिक्रिया नहीं हुई है जो कहा गया है। प्राणमय तथा आनन्दमय की चेतना से पृथक शुद्ध मनोमय चेतना को दिवस्पद कहा गया है जिसके विचार और भाव सबके आलोचन तथा आनन्दमय मानसिक स्पन्दन की शुद्ध किरणों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार प्राप्त और पूत हुआ सोम रस अब मन या तज को सुख नहीं करता अब वह फैलता फुटकता नहीं,

अपितु मन और शरीर का रक्षण करता है (अवनि) ।

उक्त आन्त और सोम के बहुत से वर्णन समान हैं । जब साम का भ्राजमान हिरण्यव^१ अथवा सन्नात^२ कहा जाता है तो स्वभावतः हिरण्यवका के परमानन्द की याद आ जाती है । इसी प्रकार आन्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त विराज^३ का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सोम के लिए भी हुआ है । साम के लिए प्रयुक्त मधु^४ मधुमत्तम^५, मधुच्युत^६ मधुपृष्ठ^७, मधुपर्य^८ आदि शब्द स्वभावतः आन्द के लिए प्रयुक्त हो सकने हैं और इसीलिए आध्यात्मिक आन्द के रहस्य बतलाने वाली विद्या का मधु विद्या^९ कहा गया है । पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही तजोमय अमृतमय पुरुष या आत्मा को पुनः पुनः मधु कहते हुए अतः म उपमहार के रूप में कहा गया है कि 'तुम्हें त्वाष्ट्र मधु का उपदान किया गया तथा जा गायत्रीय मधु था ।' उपनिषद् की इस मधुविद्या का सव्य ब्रह्म के अश्विनो से है जिनका मधु से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध ऋग्वेद में ही प्राप्त हो जाता है । वहाँ के मधु पीने वाले मुखों में मधु पीते हैं मधु के लिए वे रथ का जाह्न हैं और वे एक मधुमत्तम दानि का बहन करत हैं ।^{१०} अश्विनो के बाहन हन मनुमान^{११} हैं और अश्विनो की तीन मिथुन दृनिया के ऊपर एक मधु स आन्त प्राण तिम तुरीय^{१२} दृति का उल्लस्य भिन्नता है वह समवत तुरीय ब्रह्म के आन्तमय स्वरूप की आरम्भ करत है । अतः कोई आश्चर्य नहीं कि महर्षि अरवि ने अश्विनो का

१ अ० ६, १, १०

गोमा० १, १३ शोमा० १४, १, १

३ अ० ६, ५१-२ को० मा० ६, ६, शोमा० २, २, १७, २, ४, १६

४ अ० १, १, ८, २, ३, ११, ५, १८, २, ३६, ५, ६०, २०, ६७, ११, २, ६६, २, ७०, ८, ७२, २, ७६, २, ७१, २ इत्यादि

५ अ० ६, ६, १६, ३४, २०, ६७, १६, १००, ६, १०५, २, १०६, ६, १०८, १ इत्यादि

६ अ० ६, ६, १, ७

७ अ० ६, ८६, ४

८ अ० १, २४, ११, १०, ४, १३

९ अ० ७, २, १

१० वही

११ ४, ४५, ३

१२ ४, ४५, ४

१३ ४, ४५, १

आत्मा म तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तजामय अमृतमय पुम्प है, यही वह है जो कि यह आत्मा है' [इम वाक्य स कहा गया है] । यह अमृत है, यह ब्रह्म, है यह सब है । वह यह आत्मा समस्त भूता का अधिपति एव नमस्त भूतो का राजा है । इस विषय म दृष्टान्त—जिस प्रवार रथ की नाभि और रथ की नेमि म सार अर समर्पित रहते हैं, उसी प्रवार इस परमात्मा म समस्त भूत, नमस्त देव समस्त लोक समस्त जीवन और ये सभी आत्माएँ समर्पित है [सभी उम परमात्मा से जुडे हुए और उसी के सहार स्थित हैं] ॥११५१॥

इम पूर्वोक्त मधु को दध्यड्डायवण ऋषि ने अश्विनीकुमारा से कहा था । उस मधु को देखत हुए ऋषि (मत्र) ने कहा—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है उसी प्रकार ह नराकार अश्विनीकुमारा । मैं लाभ के लिए किये हुए तुम दोना का वह उग्र दस कम प्रकट किय देना हूँ जिस मधु का दध्यड्डायवण ऋषि ने तुम्हारे प्रति अश्व क सिर से वणन किया था । उस इस मधु का दध्यड्डायवण ने अश्विनीकुमारा को उपदेश किया । इस देखत हुए ऋषि ने कहा है कि—हे अश्विनीकुमारो ! तुम दोना आयवण दध्यड के लिय घोडे का मिर लाय । उसन सत्यपालन करत हुए तुम्ह त्वराष्ट (सूय सम्बन्धी) मधु का उपदेश किया तथा हे शत्रुहिसक ! जो [आत्मनान सम्बन्धी] गोपनीय मधु था [वह भी तुमसे कहा] ॥१७॥

द्विविध सोम

ऋग्वेद के नवम मण्डल स बाहर एक सोम सूक्त (८ ४८) मे स्पष्ट कहा गया है कि आधिदविक और आध्यात्मिक सोम को ही अमश सभी देव और मनुष्य मधु कहते हुए सवन सचरण करते हैं । सम्भवत सोम के इसी द्विविध रूप की आर सकत करत हुए अमृत (सोम) के घाम को भी द्विविध होता हुआ वतलाया गया है (६ ६५ २) । इसी अभिप्राय से सम्भवत साम क वसु को दिय तथा पार्थिव रूप से द्विविध कहा गया है (ऋ ६ १६ १) । एक आय स्थान पर जब पवमान क प्रसिद्ध सत्य का उदघाटन करत हुए यह कहा गया कि उसम समस्त त्रिया शक्तियाँ एकत्र होती हैं और उसकी ज्योति लोक को बनाती है ता भी आध्यात्मिक एव आधिदविक सोम का भेद ही ध्वनित होता प्रतीत होता है ।

आध्यात्मिक सोम

आध्यात्मिक सोम के प्रसंग में मति, धी, मनीषा चेतस मेधा, धीति, दक्ष, ननु आदि अनेक आध्यात्मिक^१ गतिया का उल्लेख होता है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण गरीर के भेद से सम्भवतः सोम के तीन धामों की कल्पना की गई है, इनमें से तृतीय धाम का सोम ऋषिमना, अपिबृत् आदि कहलाता^२ है और इन तीनों धामों में परे एक तुरीय धाम^३ की भी कल्पना की गई है जिसकी तुलना अध्यात्मवाद की तुरीयावस्था^४ से की जा सकती है। 'स्व' के भीतर अदनीय (भक्षण्य) हान से सोम को स्वादु^५ कहा जाता है। इस स्वादुभूत सोम का भक्षण वही कर सकता है जो सुमेधा एवं स्वाध्य^६ (स्व का अध्ययन करने वाला) है। गरीररूपी अयोध्यापुरी के सभी देव, पवमान व जिस गुप्त (निष्प) स्थान^७ में माने जाते हैं वही सम्भवतः सुमेधा, मातृविद विद्वदेव, सोम का 'नित्य' मदम है जहाँ वह छनता हुआ (पुनान) जाता है। अतः सम्भवतः इसी सोम को पीने से अमृतत्व, ज्याति तथा दबो की प्राप्ति होती है क्योंकि इसको पी लेने के पश्चात् मानवी हिंसा की तो बात ही क्या कोई अन्न भी कुछ दिगाड नहीं कर सकता —

अपाम सोमममृता अभूमागम ज्योतिरविदामदेवान् ।

किं नूनमस्माकृणवदराति किमु घृतिरमतमत्यस्य ।

यह सोम, जिसको पीकर मत्स्य भी अमृत हो जाता है वस्तुतः आन्तरिक आनन्द ही है, दमका प्रमाण यह है कि यह सोम मुखों में नहीं हृदयों में पिया जाता जाता है : और वह वस्तुतः कहीं बाहर से नहीं आता अपितु हमारे भीतर से ही अग्नय में बँट जाता है" और इसलिये हमारे गरीर का रक्षक

१ ऋ० ६, ६६, ३, ५ १५ ६, ८१, ७, ६ ७१, ६, ८ १०, ६, ६, ६, ४ ६, १६, ४, ६, १, ३, ६, ८६, ४०

२ ऋ० ६, ६६ १८

३ ऋ० ६, ६६, १६

४ दक्षिण्ये माण्डूस्थाननिषिद्धता वै० ६०

५ ऋ० ८, ४८, १ ६

६ ऋ० ८, ६८, १

७ स्वायं रवाययन — स्त्रायण

८ ऋ० ६, ६३, ४

९ वही ३,

१० ये न भिनरो ऋ सु पांन अमत्या मत्या आविवेरा । (वही, १२)

११ तु० क० ८, ४८, १० पर मायणभाष्य — "अयं मान अग्नासु निहितोऽभूत् ।"

कहलाता है —

त्व हिनस्तव सोम गोपा गात्र गात्रे निपसत्या नचक्षा

(ऋ० ऋ ४८, ६)

आधिदविक सोम

यद्यपि पवमान साम व वणन म आध्यात्मिक सोम क साथ ही आधिदविक सोम का भी वणन मिलता है, परन्तु उसमें स दोना की पृथक् पृथक् कल्पनाओं का दूढ़ निकालना कठिन नहीं। इस प्रसंग में, सर्वप्रथम हम पवमान सोम की प्रकाशस्वरूपता को ध्यान में रखना है। शनपथ ब्राह्मण^१ व अनुगार, ता सोम का 'स्वा है ही म (प्रकाश) जिमक कारण ही वह स्वाम कहलाते-कहलाने सोम हो गया। जब सोम को श्री अथवा श्री ज्योति कहा जाता है या उसका सम्बन्ध ज्योतिरजस^२ स बतलाया जाता है तो उसकी ज्योति स्वरूपता पर ही बल दिया जाता है —

यत्र ज्योतिरजस यस्मिँल्लोके स्वहितम् ।

तस्मिन् मां धेहि पयमानामत लोक अक्षिते ।

(ऋ० वे० ६, ११३, ७)

सोम का सम्बन्ध उम 'त्रिनाके त्रिदिवे से भी है जहाँ ज्योतिष्मान^३ लोका की स्थिति बतलाई गई है। सोम के प्रसंग में नानासूर्यों से युक्त सप्त दिग्गात्रों का उल्लेख भी उसकी ज्योतिष्मत्ता को प्रकट करता है और वही बात सोम को सम्राज विराज अथवा राजा कहने में अभिप्रेत^४ है। इसीलिए साम व साथ भ्राज, सम्राजमान वचस सर्वचस हिरण्य, चद्र अग्नि, सूर्य आदि विविध प्रकार के ज्योति सूचक शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है (१० ब्रा० ३ २ ४, ६ ५ २ ५ १० ११ त० १ ४ ७ ४ ५ १० ब्रा० २ ३ २, ६ गो० ब्रा० १ ५ १४ वी० ब्रा० १६ ५ त० ब्रा० १ ४, १० ७ ६०

१ स्वा वे म ष्यति तस्मान् सामो नाम श० ऋ, ६, ४ २० ।

२ श्रीर्व सोम (श० ऋ १, ३ ६) ऋ १ श्री ज्योति सोम

(श० ५, १ २ १०, ५, २ ५, ८)

३ लोका यत्र ज्योतिष्म तत्रतत्र मानभुन कृषि ।

—(१० ६ ११३ ६)

४ ऋ० वे० ६ ११४ ३,

५ गो० ब्रा० १, ५, १३ वी० ब्रा० ६, ६ श० ब्रा० ३, ३ २, ७ ३, ६ ४ १६

इत्यादि ।

शा० १२, १, १, २, गा० ब्रा० १, ५, १२ गा० ब्रा० १, ६, ४, ५, २, ४,
२ ७ ११ १, ४ ४ इत्यादि)

ब्रह्माण्ड का सोम

आध्यात्मिक सोम की कल्पना म जो ज्योति का समावग दिखाई पडा उसका आधार बाह्यजगत् म प्राप्त प्रकाग ही रहा होगा । हम समाधि की अवस्था म जो प्रकाश नश घट करन पर भी अपन भीतर लिखाई पडता है उसकी तुलना बाह्यजगन म उपलब्ध होने वाले मूय, उपा, चद्र, विद्युत् आदि मे स्वत ही हा जाती है । इसी सादृश्य क आधार पर बाह्यजगत् के प्रकाग सात मूय चद्र पजय विद्युत् आदि को अन्तजगत् के प्रतीका के रूप मे भी ग्रहण किया गया । अत सोम मूय क समान या मूय के माय चमकने वाला है वह अपन प्रकाग म अघकार को मारता है, वह मूय एव विद्युत् से उत्पन्न हाना है और पजय उसका पिता है । मूया-मूक्त (ऋ० १०, ८५) मे उल्लिखित माम जो नशत्रा की गाद म स्थित है वह निम्मदह चद्रमा है और ब्राह्मणा म ता चद्रमा को दवमोम कहा ही गया है । इससे यह प्रतीत हाता है कि आधिदविक अथ म ब्रह्माण्ड के प्रकाशमान को सोम कहा जा सकता है । अत बार्द आचय नहीं कि सोम से प्राथना की जाय कि वह चुलोक से पृथिवी पर दीप्तिमय वृष्टि कर । उपा तथा मूय क समान अपनी किरणा से पूण करने वाली या सार विन्व का मूय समान आत प्रात करने वाली यह द्युतिमय वृष्टि अथवा सोम मर की प्राप्ति या तो हम समाधि की ज्योतिवृष्टि मे मिल सकती है या प्रतिनि हान वाली मूयप्रकाग वृष्टि म । इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक माम क प्रकाग की कल्पना बाह्यजगत् क प्रकाग पर ही आधारित है ।

१ अ० व० १०, ०

२ अ० वे० ६, १, ६ ७०, २, ११२, ३

३ अ० वे० ६, ६ ७, ६, १६, ०० ६६, ०६, १००, ८, १०८, १०

४ अ० व० ६ ६३, १

५ अ० वे० ६ ८० ३

६ अ० व० ६, ८०, ३

७ अ० शा० ७, ११,

८ अ० व० ६, ८

९ अ० वे० ६, ४१, ५

१० अ० वे० ८ ५४, १-४

इस दृष्टि से वाह्यजगत् क प्रकाशमान को ही सभ्यत सोम कहा जा सकता था। अतः प्रकाशमय अग्नि की भाँति सोम को भी निपदस्थ कहा जाता है, क्योंकि वह तीन स्थानों में रहता है और उगव तीन पवित्र (छत्रनिर्या) फले हुए हैं। सोम क य तीना स्थान पिण्डाण्ड म स्थान मृदम तथा वारण— शरीर और ब्रह्माण्ड म त्रयम भूमि, अतरिक्ष तथा आकाश प्रतीत होत हैं। एक दृष्टि से वारण शरीर या विनामय को ही एक पवित्र है जो मारण म अपना जाल बिछाव हुए है और जिससे ब्रह्मणस्पति सोम क बिन्दु छन छन कर चारा और छितरात हैं। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड म 'दिवस्पद ही एक पवित्र है जिसमें अनेक दीप्तिमान तत्त्व दिवस्पृष्ठ पर स्थित हात हैं तीना स्थानों को तीन पृष्ठ कहा जाता था अतः सोम प्रायः त्रिपृष्ठ भी कहा जाता है। उनमें से दिवस्पृष्ठ का उल्लेख प्रायः मिलता है और सम्बन्ध इसी को वह एक पवित्र कहा गया है जिसको और सोम उक्त तीना पवित्रों म छनता हुआ दीडता है। जिस सोम क वग म यह मारा दिवस्व है वह जो आवापृथिवी को परिपूर्ण कर देता है और समस्त ज्योतियाँ तथा स्वयं गृह्य जिसका ही कहा जाता वह प्रथम धामधा साम मूलतः आधिभौतिक प्रकाश ही रहा हागा। इसी प्रकार दीप्त तज द्वारा चमकनेवाले भानु और आवापृथिवी को प्रकाशित करने वाले एव स्वर्ग (नाक) म स्थित ऊँच ग घव के रूप म सोम का कल्पना का आधार भी निस्सन्देह वाह्य प्रकाश ही हो सकता है।

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का सादृश्य

आध्यात्मिक और आधिभौतिक सोम क बीच यहा जिस सादृश्य की ओर संकेत किया गया है वह वैदिक साहित्य की एक व्यापक विशेषता है। 'वैदिक साहित्य की भावना है कि सारा विश्व एक ब्रह्माण्ड है और मनुष्य वह स्वी पिण्ड उसी का एक तनु मस्करण है। अतः जो ब्रह्माण्ड म है वह पिण्ड म भी है— यदवह तदमुत्र यदमुत्र तदविविह। उपरिपन्ना म तो यह सिद्धांत स्पष्ट

१ ऋ० १, १०३, ७

२ ऋ० १ ६५, ५१

३ ऋ० १, ८३ १

४ ऋ० १ ८६, २७ १ ८३, ३ इत्यादि

५ म श्री पवित्रा मिन्ना यन्त्रिक धार्मिक पृथमान।

६ ऋ० वे० १ ८६, २० २६

७ ऋ० वे० १, ८६, १२

रूप से बतलाया गया है । उदाहरण के लिए हमारे शरीर में जो प्राण कहलाता है वही ब्रह्माण्ड में आदित्य है और इन दोनों का विभाजन इस प्रकार है —

प्राण	पिण्डाण्ड	ब्रह्माण्ड
अपान प्राण समान व्यान उदान	वायु और उपस्य का प्राण चक्षु, श्राव, मुख, नाक का प्राण मध्यशरीर का प्राण सारे शरीर की नाडियाँ का प्राण ऊर्ध्व भाग का प्राण	पृथिवी अतरिक्ष आकाश वायु तज

तत्तिरीय उपनिषद् में भी ऐसे कई रोचक समीकरण दिये गये हैं जिनमें पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का उक्त सादृश्य स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है । यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) महासहिता

स्थान	पूरुरूप	उत्तररूप	सधि	संधान
अध्यात्मम्	अधर हनु	उत्तरा हनु	वाक्	जिह्वा
अधिलोकम्	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्यातिपम्	अग्नि	आदित्य	आप	वँद्युत

(२) व्याहृतियाँ

स्थान	भू	भुव	स्व	मह
अध्यात्मम्	प्राण	अपान	व्यान	अन
अधिलोकम्	पृथिवी	अतरिक्ष	द्यौ	आदित्य
अधिज्यातिपम्	अग्नि	वायु	आदित्य	चंद्रमा

(३) पाक्त पुरुष

अध्यात्मम्	प्राण	व्यान	अपान	उदान	समान
	चक्षु	श्रोत्र	मन	वाक्	त्वक्
	चर्म	माम	स्नायु	अस्थि	मज्जा
अधिभूतम्	पृथिवी	अतरिक्ष	द्यौ	लिङ्गायें	प्रबानरलिङ्गायें
	अग्नि	वायु	आदित्य	चंद्रमा	नशान
	आप	श्रोत्रधिसी	वनस्त्रितियाँ	आकाश	आत्मा

सादृश्य का परिणाम

वदिक साहित्य में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बीच इस प्रकार का सादृश्य अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। इस सादृश्य का फलस्वरूप, प्रारम्भ में जो पारिभाषिक शब्द केवल आध्यात्मिक जगत् के थे उनका प्रयोग कालान्तर में आधिभौतिक तथ्या के लिए हीन लगा, तथा जिन शब्दों द्वारा प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ व्यक्त की जाती थी उनका प्रयोग आगे चलकर पिण्डाण्ड की वस्तुओं के लिये होने लगा। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक में 'ब्रह्म और क्षत्र शब्दों का प्रयोग सामाजिक क्षेत्र में हटकर आध्यात्मिक प्रसंग में देखा जा सकता है —

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदन ।

मत्पुयस्योपसेचन क इत्या धेद यत्र स ॥

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में सादृश्य-दृष्टि के परिणामस्वरूप ही संभवतः दोना में ऐक्यभावना आई। अतएव अतजगत् और वहिजगत् के मूलतत्त्वों में एकाता देयी गई। अन्न आप और तेजस के जिन त्रिवृत समुक्त तत्त्वों से मन, प्राण एवं वाक का निर्माण हुआ है, उन्हीं से आदित्य और अग्नि का भी माना गया।^१ हमारा शरीर में जो वाक मन चक्षु आदि शक्तियाँ हैं वे यथाथ में ब्रह्माण्ड की शक्तियों के ही रूपांतर हैं। इस बात की ऐतरेय उपनिषद् (११२) में एक आख्यान रूपक द्वारा व्यक्त किया गया। उसका सारांश इस प्रकार है —

पहले अकला आत्मा ही था। उसमें अन्न मरीची, मर और आप की सृष्टि की। आप में उसने एक 'पुरुष' बनाया। उसके भिन्न भिन्न इंद्रियाँ प्रकट हुईं जिनसे निम्न प्रकार से ब्रह्माण्डीय देवता निकले —

अंग	इन्द्रिय	देवता
मुख	वाक	अग्नि
नामिका	प्राण	वायु
आँख	चक्षु	आदित्य
कान	श्रोत्र	दिक
त्वचा	स्पर्श	आपधि वनस्पति
हृत्पथ	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
गिस्न	रेतस्	आप

विण्ड तथा ब्रह्माण्ड के रचना-तत्त्वा और दवताआ आदि की एकता में, दोनों के पुरुषों (पुर म रहनवालो) की एकता दिखाई थी। अतः कहा गया कि जा पुरुष हमारा अंतरात्मा होकर हमारे गरीर में बठा है वही महत्साक्ष तथा सहस्रपाद होकर सार विश्व के भीतर और बाहर (श्व० उ०, ३, ११ १४) विराजमान है। यही ब्रह्म अमृत का स्वामी है और 'भूत' तथा 'भव्य' मव कुछ इसी का है। वह एक साथ ही नवद्वारवाली पुरी का निवामी देही हम है और चर अचर का बगी भी —

नवद्वारे पुरे देहा हसो लेलापने वहि ।

बगी सबस्य लोकस्य स्यावरस्य चरस्य च ॥

विण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में एकता देखन वाली दृष्टि को दानों में काई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता। अतः इसी दृष्टि के कारण वदिक मंत्रों की दुरुहना बहुत बर गई है, और कभी कभी ता एना हा जाता है कि शब्दों के प्रकृत अर्थों से प्रसंग विशेष में काई अभिप्राय ही नहीं निकलता। ऋग्वेद १, १६४ के निम्नलिखित अंग में अष्टुभ गायत्र, जगती आदि गन्धा का प्रयोग इसी प्रकार का एक उदाहरण है —

यस्मिन् वक्षे मध्वद सुपर्णा विविंगते सुवते चाधिबिन्धे ।

तस्येदाहु पिप्पल स्वाद्वग्ने तनोनगद्य पितर न धेद ॥

यत्र गायत्रे अधि गायत्रमाहित अष्टुभादया अष्टुभ निरतक्षत ।

यववा जगज्जगत्याहित पद य इत् तद विदुस्ते ॥

आनन्द और प्रकाश

विण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के उक्त सादृश्य को देखन हुए यह कोई आश्चर्य का बात नहीं कि आतर्गिक प्रकाश और बाह्यप्रकाश दाना का एक ही नाम सोम दिया जाय विनियोजक इसलिए कि दानों ही सुम्' नामक सो-दर्यानु भूति का विभाविन' करन की क्षमता रखत है।



१ श्वे० उ० ३, १४ १८

२ दण्डिये आशय १, पृ० ७-८, २० २० १७-१८

५

पेय सोम

जिस प्रकार भौतिक प्रकाश की ज्यामितीयता पदमान सोम की दीप्ति का आधार बनी, उसी प्रकार सोम के माधुय का आधार पेय सोम का माधुय प्रतीत होता है। पेय सोम के विषय में कई मत व्यक्त किए जा चुके हैं परन्तु वे सब यही मानकर चलते हैं कि सोम का कोई पौधा होना था। प्रस्तुत प्रमाण में पेय सोम के स्वरूप को निर्धारित करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वैदिक साहित्य में पेय सोम के प्रतीका द्वारा आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सोम का ही वर्णन प्राप्त होता है और पेय सोम नितांत पृथग्भूमि में पड़ा रह जाता है। फिर भी उक्त प्रतीका के सूक्ष्म अध्ययन तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान एवं कर्म-काण्ड के आधार पर पेय सोम के विषय में कुछ अधिक सभावित निश्चय पर पहुँचा जा सकता है। सोम का मुख्य नाम 'मद' है यहाँ तक कि सोमपान की सारी क्रिया भी 'मद' धातु से ही व्यक्त की जाती है। 'मद' गृह्य का नाम^१ है और आधुनिक विद्वानों की सम्मति में इसका सम्बन्ध भारोपाय धातु *melit* से है जो अनेक भाषाओं में इस प्रकार^२ फली हुई है

लटिन—*mel* गृह्य

ग्रीक—*meli* गृह्य

अनवगियन—*myjal* गृह्य^३

गौथिक—*milip* गृह्य

एस्तामैवमन—*milisc* गृह्य या मीठा

mildeaw गृह्य सी ओस^४

^१ लि० ११ १

^२ दक्षिण—Bender The Homes of Indo Europeans p—19

वानिग—mel गृहद'

पु ध्रायरिग—mil गृहद

आर्भोनियन—metr गृहद ।

इस सूची में एग्लासकनन mele और जाडा जा सकता है । य मभी शब्द सस्कृत 'मद स निकले हुए हैं । इसकी पुष्टि निम्नलिखित धादा स भी होनी है जिनमें द ल तथा ड एक दूसरे के स्थान में आ सकते हैं—

१ इ milk=ज milch=ए स meole melole (mel मद × ole उदक)

२ स मृदु=इ mellow=ऐं म mearw=डच murw

३ स मृलीक=डच, mollig=ऐं स milisc

=ग्री malakos=लै mollis

४ स ईदृश (क)=ऐं स, ilc या ylc=इ ilk (इम प्रकार)

५ क नील म नीड=ले nidus=फ्रँ nid=हि नीड=ए स nest'

६ स ऋभु' =प्र ibhu=ल Abhus=ऐं स Abbe=ऐं स Aelf

=आइम Alfr=स्व elf=ड elf=ना Alfre

आधुनिक विद्वान् भारोपीय भाषाओं में 'मद की पयायवाची धातु melit के अतिरिक्त meduh भी मानते हैं जो विभिन्न भाषाओं में निम्नलिखित रूपा में पाई जाती हैं—

'सस्कृत मधु (गृहद मीठा पदार्थ) , मधुकर (मधुप) पु बल्गारियन medu (गृहद) लैथुआनियन medus (गृहद) medu ग्रीक medhu (मातृक पय) mede 'मादकता पु हा जमन meto (शहद दूध का मिश्रण) डच mead बल्ग medu अंग्रेजी 'mead' इस सूची में जमन met या meth भी सम्मिलित किया जा सकता है ।

उप्युक्त मन् तथा मधु गृहद की परीक्षा से प्रतीत होता है कि वास्तव में दोनों गृहद एक ही मूल धातु मद में निकले हैं । मधु केवल मद+दुह का संयुक्त रूप है इसी कारण 'मधु स निकले हुए शब्दों का अर्थ प्रायः गृहद-

१ तुलना के ऐंकोर्नेस्तन nestlian = nestle म—नियण्य ।

२ Kuhn's Zeitschrift 4 103-20 Wacker KZ 24 297 neve
essai sur le myth des Ribhavas 263 Macdonell Vedic
Mythology p 134 Carnoy Les Indo Europeans p 210
Keith Rel Ved Up 38

३ Bender—The Homes of Indo Europeans p—19

म भी प्रचलित थी अतः बहुत संभव है कि भारोपीय काल में भी इनका प्रचार हो। उक्त आलेख्य में एक मनुष्य रस्मी की एक सीढ़ी से गृह निकालने के लिए चढ़ रहा है, रस्मी जिधर से मक्खियाँ घा रही हैं उधर न लटककर दूमरी ओर लटक रही है जिससे मधुमक्खियाँ डरें या घबरायें नहीं। चित्र में मनुष्य बंदल लगाट बांधे हुए है और बंदल दो एक मक्खियाँ छत्ते में सघा जा रही हैं। इसके विपरीत आजकल मैदानों में किसान घुँस मक्खियाँ को उड़ाकर अपने गरीबों को बम्बल से जपट कर जाने हैं और पूरे छत्ते को काट लेते हैं।

सोम-याग के अंतर्गत सोम विषय कम-काण्ड में भी मधुमक्खियों से मधु छीनने की एक कल्पना दिखाई पड़ती है। यह कमकाण्ड सरोदने तथा लूटने का मिला जुला रूप है क्योंकि दिव्य सोम वाक के मूल्य रूप में देकर गंधर्व से खरीदा जाता है और पार्थिव सोम मक्खियों से छीना जाता है। इनमें से प्रथम का अभिप्राय तो आगे चलकर व्यक्त किया जायेगा, परंतु सोम का छीनना या लूटना अवश्य ही इस कमकाण्ड में सुरक्षित है यहाँ तक कि सोम विक्रय द्वारा गृह को मारपीट (कदाचित् दिखावटी) के बाद मूल्य देकर भगा दिया जाता है और उसके विषय में कहा जाता है कि 'वह उसी तरह रोता चिल्लाता जाता है जिस प्रकार मधु लूटने के बाद मधु मक्षिका।'

ऋग्वेद में एक स्थान^१ पर तो स्पष्ट रूप में सारथ (मधुमक्खी का) मधु को ही सोम कहा गया है। यहाँ पर इन्द्र को सारथ मधु से मिले हुए दूध (धेनुवद्रव) को पीने के लिए आमंत्रित किया गया है और इसी पेय को फिर सोम तथा इन्द्र का भोजन कहा गया है जिसके लिए इन्द्र प्यासा रहता है। मधुमक्खियाँ के मधु तथा सोम की एकता ऋ० वे० २२४४ में स्पष्ट है क्योंकि यहाँ पार्थिव मधु प्राप्ति के रूपक द्वारा दिव्य मधु की प्राप्ति बतलाने के प्रसंग में कहा गया है कि ऋषिगणस्पति ने जिस अश्वमेध (परधर जिसके मुख पर था) अवागमुखी मधुघार को चीर निकाला उसको सब देवता भोगते हैं और उसी से अनेक एकसमुद्र^२ को सिंचित करते हैं। ऋ० वे० ३५३, ११ में प्रयुक्त नचागाय^३ के आधार पर विद्वानों का कहना है कि सोमवण की गाथाएँ

१ ऋ० वे०, ४. ८. ११

२ वे० वे० 'आप' के अन्तर्गत समुद्र की कल्पना।

३ तु० वे० सायण के अनुसार 'सका अर्थ 'नीच जन्म वाला' है लाट्ययाम श्रोत्र (१०, ११ १३) के अनुसार 'स्थान का नाम' है धर्ममैत्र लुङ्गिग तथा सिमेत् प्रथम अर्थ को मानते हैं 'परकि हिलेमा के अनुसार इनका अर्थ 'अग्नेमुत्ती शपण्यो वाप' है (वैदिक माशुलोकी १, १४ १८ २, २४१ २४५)

नीचे की ओर को होती थी। परन्तु यदि इसका कुछ भी ऐसा अर्थ है तो वह मधु के छत्ते के लिए ही अधिक उपयुक्त है जिसकी जड़ ऊपर को तथा अनेक अघोमुखी शाखाएँ होती हैं।

१ सोम वृक्ष

लोगों के हृदय में यह बात अच्छी तरह से बठी हुई है कि सोम का एक पौधा लता या वृक्ष होता है। अतः कई विद्वानों ने इसे खोजने का प्रयत्न किया। परन्तु तारीफ की बात यह है कि सूत्रा तथा ब्राह्मण ग्रंथों में भी यह दुर्लभ वस्तु मानी जाती है और उसके स्थान पर विभिन्न पौधों के प्रयोग का विधान किया जाता है। सुश्रुत के अनुसार तो वह ऐसी रहस्यमयी लता है जिसको अथर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणद्वेषी देख ही नहीं सकते—

न तापश्चतर्धामिष्ठा कृतघ्नाश्चापि भानवा ।

भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥ (सुश्रुत २६)

ऋ० व० १० ८४ ३ म 'अरण वृक्ष की शाखा का उल्लेख है जिसके आधार पर विद्वानों ने अनुमान किया है कि सोम का तना लाल होता होगा। परन्तु सम्पूर्ण सूक्त पर विचार करने से यह बात स्पष्ट रूप से नात हो जाती है कि वहाँ पर एक रूपक द्वारा आधिभौतिक और आध्यात्मिक सोम का वर्णन किया गया है। मधुमन्त्रियों के छत्ते प्रायः पहाड़ी चट्टानों या वृक्षों में पाए जाते थे अतः दिव्य सोम (प्रकाश) के विषय में भी यही कल्पना की गई। नक्षत्र मण्डित आकाश तथा मधुकोष्ठक मय छत्ते में स्वाभाविक सादृश्य था। चंद्रमा के द्वारा वह सारा साम निकलता हुआ भागा जा सकता था। अतः जिस प्रकार इस सोम का जन्म उल्लिखित पहाड़ी चट्टान से सम्बंधित किया गया, उसी प्रकार उक्त नक्षत्रों के छत्तों के लिए भी एक वृक्ष की कल्पना की गई। आकाश तो उस वृक्ष की डाली ही है जिस पर नक्षत्रों का छत्ता लटका हुआ है। अतः यह वृक्ष तो ज्योतिर्मय विश्व वृक्ष ही हो सकता है। यही अरण (प्रकृति) का अरण (उज्ज्वल पथ) वृक्ष है जिसकी जड़ ऊपर की है (नीवीन स्युरपरि बुध्न एवाश्वमे भन्तनिहिता केतवा स्यु) और इसी के आधार पर उबमूल सत्तार वृक्ष की भी कल्पना की गई है जो न केवल मधु के छत्ते पर ही ठीक बैठती है अपितु हमारे पिण्डाण्ड पर भी भलीभाँति लागू हो जाती है।

अतः उक्त सूक्त (१०, ६४) में आकाशीय साम के रूपक द्वारा आध्यात्मिक

सोम का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग में किया गया है। "ब्रह्माण्ड के समान पिण्डाण्ड में भी प्रकाश तथा अधकार का सेतु मचा हुआ है। नेत्र और कान मूँदकर जब माधक ध्यान करन बैठता है तो उस धरुण आकाश में अनक अधकार घन उठत हुए दिखाई पड़ते हैं और साथ ही वह घन गज की सी ध्वनि भी सुनता है। इन्हीं बादलों को उक्त मूत्र में गावा सामधारी अग्नि या पवत कहा गया है जो सकडों और सहस्रों के समान उद्वरत हैं जो फलानवाले (विष्टी) हैं, धरुण वर की शाखा (आवाग-ज्याति) को छात हुए फलने हैं। और अपनी बहनो (विद्युत् रेखाभा) के साथ नाचते हैं तथा पृथिवी को जलधरा में धाधोपित कर देते हैं ये सुषण है, जिनके शब्द (वाच) करने पर दिव्य अग्निर्मा (इषिरा) वृष्ण हावर नय करने लगती हैं और मूयन्वित रेतस पुर (बहु) रूपो में म्यापित हो जाता है, वे एक साथ जुड़े हुए (साक युक्ता) तथा धुर धारण किए हुए वपमो के समान बहते हुए आन है। यहाँ पर वृष्ण होकर नाचने वाला दिव्य अग्निर्मा अथवा मूयन्वित रेतस के नाना रूप उक्त बादलों में वरमन वाले भौतिक जल बिन्दु तथा आध्यात्मिक सोम वर्ण है। जिस प्रकार आध्यात्मिक सामरस दण इन्द्रिया द्वारा मक्त होता है उसी प्रकार भौतिक साम (प्रकाश) भी दण शिवाभा द्वारा व्यक्त होता है। अतः ये सोमधारी अग्नि दणमत्रो वाले कहे गये हैं। जिनके विभिन्न प्रकार के दस दण भ्रम वननाय गये हैं—

दशावनिभ्या दणकक्षेभ्यो दणयोक्त्रभ्यो दणयोजनेभ्यो
दणभिगुभ्यो अचताजरभ्यो दणधुरो दणयुक्तावहद्रुच —
ते अद्रयो दणपाशस आगवस्तेषामाधान पर्येति ह्यनम् ।

इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त प्रसंग में वर्णित 'धरण वक्ष बाई पीधा गहो अपितु प्रकाश का विश्व वक्ष है। इन प्रकार के विश्ववक्ष की कल्पना अम देणो के साहित्य में भी मिलती है।

२ अस यग द्रसील

सर्वोच्चतम साहित्य में 'असयगद्रसील' नामक ऐसा ही एक वक्ष है। वह मार विश्व में फला हुआ है—उसकी गाराण नीकत्र हाइम (निम्नधाम या पाताल) की गम्भीरतम गहराण्यो मिदगिद (मध्यगत या अन्तरिण) के सारे प्रदेश तथा असयग (स्वर्गलोक) के बाने-बात तक में फैली हुई है। उसकी उच्चतम शाखा लेराद शांति प्रदायिनी है जो आनीन (आवाग का अधिष्ठाता देवता) के गृह पर छाया किए हुए है। लेराद के ऊपर एक गीध बठा हुआ है

जिसके नन्नी के बीच 'वेदफोलनीर' नामके एक श्यन बंठा है जा अपनी दृष्टि तीना लोका म फेंकता हुआ वहाँ की सारी घटनाया को जान लेता है। गोघ तथा श्यन का मिलाकर वही काम है जा ग्रीस के सूर्य देवता 'हेलियम' का है। अतः गोघ का सूर्य तथा श्यन का सूर्य की किरण सहति कहा जा सकता है। यह सदा हरा रहने वाला तथा कभी न मुरभान वाला वक्ष है जिसके पत्तों को देवा के मृग नक्षत्र चरा करत हैं। चन्द्रमा आग्नीन का 'हाइड्रोव' नामके वकरा है जो इस वक्ष को अपना चरागाह बनाए हुए है। यह चन्द्र रूपी मीड (साम) का प्रमुख खात है यद्यपि मृगरूपी नक्षत्रा स भी इसकी प्राप्ति होती है। इसी वक्ष की गाखाया तथा पतिया द्वारा जो दिव्यजल टपक पडता है उसी स मधुमक्खिया छत्ता मे गहद बनाती है। मृगरूपी नक्षत्र भी प्रतिदिन मधुमती आम टपकाते है।

इस वृक्ष पर देवा का भाग्य आश्रित है और इसी म प्रतिनिधि देवा की बंठक हाती है परंतु यह सुरक्षित नहीं है। नीफल हादम (पाताल) के हर्गोनीर नामके कुड म एक नीचूग नाम का राक्षस है जो अंधकार रूपी असह्य कोडा के साथ इस वक्ष की जडा को बाटा करता है क्योंकि इस वक्ष के गिरत ही 'अम (स्व) प्रकाश नष्ट हो जायगा और फलन देवता मृत्यु को प्राप्त हा जायेंगे।

Through all our life a temper prowls malignant
The cruel Nidhung from the world below
He hates Asa light whose rays benignant glow
On the hero's brow and glittering sword bright

(Viking Tales of the North tr R. B. Anderson)

यहा ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार वदवानर के 'स्व' से सारे देवताया का पापण होता है और वे स्वदृग या 'स्वय' बहे जाते हैं, उसी प्रकार नावें जिमन देवता भी अस (स्व) के सहारे जीत है तथा असीर (Alsir) कहलाते हैं।

३. नेग्रोक्वेरेन श्वेतहोम (मोम) का वृक्ष

ईरान म मोम को होम कहा जाता है और वह श्वेत तथा पीत दा प्रकार का है। पीत होम तो पायिव पेय है और श्वेत होम स्वर्गीय। श्वेत होम का वृक्ष नेग्रोक्वेरेन है जिमका वणन अस यग्गद्रसील से बहुत कुछ मिलता है।

अस यग्गद्रमील स वदूत कुछ मिलता है। अस-यग्गद्रमील की भाँति यह वृष भी सारे विश्व क पुनर्जीवन तथा भावी अमरत्व क लिय घ्रावयक है। अस यग्गद्रसील मिमीर कूप क तट पर है और गेघ्रोवेरेन की बड क पास बउरु कक्ष मागर है, जिसम सहस्रो भीला के बराबर जल है। 'सम अद्रीसर' स सहस्रो स्वण नलिकाया द्वारा गम तथा स्वच्छ जल आकर भरता रहता है। त्रिसदेह यह गम तथा स्वच्छ जल भूय का प्रकाश है जो 'ऋत्वी सूप (अर्द्धीसूर) स आकर उरुष (बउरु कक्ष) मे जमा होता है। बउरु कक्ष को ही अवेस्ता म असहे खग्रो तथा ऋग्वेद म एत ऋतस्य और उत्स उद्दीणम्' कहा जाता है। पृथिवी स एक सहस्र मनुष्यों की ऊँचाई पर स एक स्वर्णिम गात्रा उस गम जल के स्रोत स निकलकर बउरु कक्ष' म होती हुई पृथिवी को धाती है जिसस गुष्क वातावरण आद्र हो जाता है और अहुरमज्द' की सृष्टि को आरोग्य प्राप्त हो जाता है।

परन्तु अहुरमज्द तथा देवताओं का कट्टर शत्रु अग्रम यु इस वक्ष को पसन्द नहा करता। अत नार्वेजियन नोडूग की भाँति इस अघकार क दय न एक छिपकली उत्पन्न कर रखी है जो दक्ष की जडा को धीरे धीरे काट रही है। पृथिवी पर मनुष्य के आगमन स पहले 'अग्रम' यु ने बडे बडे घातक तथा भयकर जंतु उत्पन्न कर रखे थे, जिनके विनाश के लिए तिष्य नामक भूय दवना ने होम (सोम) का वषा की। अत दस दिन तथा दस रात तक क्षम अपन तीनों रूपो म बरसता रहा जिसके फलस्वरूप वदूत बडा जल प्लावन हुआ और सारे दुष्ट जंतु मिट गय।

पार्थिव होम इत होम से भिन्न है। यह अलवुञ्ज पवत पर उत्पन्न होता है। परन्तु यह पहले स्वर्ग म था, जिसको एक दिव्य पत्नी इस पवत पर ल आया। इससे यह प्रतीत होता है कि दिव्य होम तथा पार्थिव होम का सम्बन्ध स्थापित करन का प्रयत्न भी यहाँ किया गया है।

४ प्रसव का पौधा

वेवीलोनिया क साहित्य म एक अद्भुत पौधे का उल्लेख मिलता है, जिसको प्रसव का पौधा कहा जाता है। सोम या होम की भाँति इसका सम्बन्ध भी गमन या सूप से है। एसा प्रतीत होता है कि पहले यह पौधा भी आकाशीय प्रकाशवृक्ष था जिसक कारण ही सारे दवताओ का जन्म तथा जीवन हुता था परन्तु कालान्तर म उम सचमुच एक पौधा समझा जाने लगा।

५ अघस, तथा कथित सोम वृक्ष

कुछ विद्वाना^१ ने पार्थिव सोम के वृक्ष का नाम 'अघस' बतलाया है। परंतु उनका यह मत पयाप्त छानवीन का परिणाम नहीं लगता। वदिक 'अघस' प्रायः ग्रीक अथस (Anthos) का समकक्ष माना गया है^२। ग्रीक-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित^३ अर्थों में हुआ है—

- १ कली या पुष्प।
- २ तेज या पुष्प।
- ३ रूपक में—जीवन का तेज या पुष्प, वण का अंज, यौवन की दीप्ति।
- ४ सोने की चमक या प्रभा।
- ५ रंगीला, चमकीला।
- ६ सुपण पक्षी।

उक्त अर्थों में देखने में प्रतीत होता है कि ग्रीक शब्द 'अथस' में चमक या प्रभा का भाव प्रदान है। यही भाव वदिक 'अघस' में भी विद्यमान है। अतः दीप्तिमती नदिया अघमी कही जाती हैं। अघस इन्द्र का वज्र है जिसके द्वारा इन्द्र नदी वृत्त वृत्र को मारता है और बल की परिधि को तोड़ता है।^४ जैसा आग्ने इन्द्र के प्रकरण में बताया जायेगा यह वज्र विद्युत् अथवा सूर्य का प्रकाश ही है। चन्द्र तथा चन्द्र प्रकाश को भी अघस कहा गया है जा देवताओं की वीर्य (माग या गति) पर चलन वाला है और देवता लोग इन्द्र (चन्द्र) मधु के अघसों का खाने वाला हैं।^५ परम व्योम में उत्पन्न होने वाला तथा वन वध के लिए प्रवाहित होने वाला साम भी निस्मदेह सूर्य या विद्युत् का प्रकाश ही है। श्येन द्वारा स्वर्गलोक लाया गया अरण अघस^६ भी जैसा आग्ने बतलाया जायेगा कोई पार्थिव पौधा नहीं हो सकता।

पीना मा रग तथा चमक होने के कारण पार्थिव, सोम (मधु) के लिये भी अघस का प्रयोग हुआ है। अतः इन्द्र को पृच्छि सहित अघस पीने के लिये

१ Macdonell Keith Vedic Index p ४७६
 २ Henary Geogre Siddell Robert Scott Greek English Lexicon viii ed p १ =
 ३ कौ
 ४ ऋ० वे० ७ ६६ ०(५)
 ५ ६ ११ १, १०, ११ ३
 ६ ६ ६१ १० १६, २० २०।
 ७ ६ ६ ६६, १० १४४ त० व० ५ ६१, ३ ६ ६१, १०।

शामलित किया जाता है'। मक्कानल तथा कीय' का मत है कि पृष्ठ का अथ पहलदार (अठकोना, चौकोना) आदि पोधा है। यथाय मे मोम व कोष्ठक, जिनके अन्तर म मधु रहता है पहलदार ही हात हैं अतः पृष्ठ सहित साम का अथ हागा मोमकण सहित मधु'। अतएव 'वीतपृष्ठ साम का भी उल्लेख मिलता है और एक बार सूय का ही वीतपृष्ठ हरित कहा गया है'। जिस त्वचा म स अघस या मधु निकलकर बहता है, वह पोथे की छाल नहा, अपितु मोम की पपड़ी' है जिसका कि प्रत्येक कोष्ठक बना रहता है और जिसम स मधु एस निकल जाता है उस केंचुल स सप'। यह पपरी शब्द वदाचित् 'वत्रि' म निकला है, जो कि वद म मधु को आवृत रखन वाली उक्त पपरी का नाम है। अतः यह वत्रि मधु का गरीर है'। उक्त विद्वाना व अनुसार ऋ० व० २ ६ १ म पव का अथ मोम युक्त का तना है परंतु पव शब्द प्राक् Poros लटित Porus तथा अंग्रेजी Pore का समकक्ष है और तत्तिरीय ब्राह्मण म 'पव' शब्द भी इसी अथ म प्रयुक्त हुआ है। अतः पव शब्द का अथ छिद्र या रोमकूप अधिक उपयुक्त जचता है। और उक्त वदिक मात्र स विश्वभि मोमपवभि व साथ भी पत्र का अथ तना न हाकर मधुकोष्ठा व छिद्र अधिक ठीक है, क्याकि सभी तना के सहित अघस का पीना असंगत है—

इद्रेहि मत्स्यघसा विश्वेभि सोमपवभि ।

अनु वरण तथा वन शान्ति की सामलता की कोपनी का नाम' मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होना। अनु का अथ पय सोम (मधु) व साथ तो गृहद की मुनहरी धार' तथा आध्यात्मिक और भौतिक सोम के प्रसंग म 'प्रकाण किरण अधिक ठीक बठता है। अतः किरणों को चद्र गुत्र (दीप्तिमान्) तथा अनु प्राय कहा जाता है'। इद्र द्वारा मुक्त की हुई नदियाँ भी चमकीले जल व

१ ४, २ ५

२ Vedic Index दे० '३०' 'मोम' या अधम

३ ५ ४५ १० तु० क० १, १८, २, ८, ६, ४२

४ ६ ८८ ४४, तु० क० १० १०७, २, १६ ०,

५ ६ ८६, ४४

६ नै० मा० २ ७ १३ १

७ वनी

८ ऐत्तिक इण्टैम

९ ३ ७ १३

१० दे० वैदिक इंडेक्स—मैक्कानल—की५

कारण 'असुमया' कही गई हैं। वक्षण का अर्थ वक्ष' या पाश्व है और उनसे निकला हुआ सोम मधु छत्ते से निकला हुआ मधु ही है। वन शब्द का अनेक प्रकार स अर्थ किया गया है। परन्तु इस प्रसंग में इसका अर्थ 'प्रकाश किरण' या मधु का सुनहरा तार ही हो सकता है। अत उपयुक्त विवेचन के आधार पर यही प्रतीत होता है कि पार्थिव सोम का कोई पौधा नहीं था और सम्भवत यज्ञों के कमकाण्ड में प्रकाश—सोम के वृक्ष का प्रतीक होकर ही कोई पौधा आ गया क्योंकि जसा पहले देख चुके हैं यज्ञ तो केवल आध्यात्मिक तथा भौतिक यज्ञ का प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि सोम के पौधे का कोई वृक्ष वैदिक यज्ञों में नहीं मिलता और ब्राह्मण यज्ञों में उसके स्थान पर अजुन (श्वेत) पौधा का विधान किया गया है^१ क्योंकि यही रंग प्रकाश का भी है।

पार्थिव सोम के पौधे का उल्लेख न होने पर सोम पीसने के पत्थरों की कल्पना करना व्यर्थ है। वास्तव में पय साम तो मधु है जिसको उगलिया तथा हाथों से मलकर निकालने का उल्लेख बार बार मिलता है^२। अत जो वस्तु हाथा में निकाली जा सकती थी उसके लिए पत्थरों की आवश्यकता ही क्या थी और वे पत्थर भी ऐसे जोर से क्यो चलाय जाते जो सहस्रों तथा सैकड़ों व्यक्तियों के बोलने का सा शब्द करते। प्राय विद्वान् लोग अद्रि पवत तथा श्रावा शब्दों का अर्थ सोम के प्रसंग में साम पीसने वाले पत्थर करते हैं। परन्तु यथाथ बात यह है कि मधु (शहद) सोम पवत पर उत्पन्न होने के कारण प्रकाश सोम (आध्यात्मिक तथा भौतिक) को उत्पन्न करने वाले पवतों की भी कल्पना की गई। अतएव अद्रिभि सुत^३ का अर्थ पवत से उत्पन्न मधु अथवा बादल आदि से उत्पन्न विधुत्प्रकाश या दीप्तित्वान् जल होगा। इसी प्रकार 'अविभि अद्रिभि सुत' मधु^४ चक्रिया तथा पवतो से उत्पन्न दूध मधु मिश्रण है, न कि

१ ६ ६६ ८, ५ ४३ ४

२ ८ ६६, १६, १३ ४

३ ८ १ २७

४ Hopkins J Hos 17 67 Maxmullar, Bact B E 32

138 of Zimmer Alt L 281

५ ५० वि० मा० ६ ५ ३ श० मा० ११ १ ५ १०

६ ६ ११ १, २४ ५, २६, ५, ३०, ५, ३० २, ३८, २ ३१ ६, ५०, ३ ६८

६, ७१, ३, ८६, १३ ७१, ४

७ २, ३६ १।

आमंत्रित किया जाता है। मक्डानल तथा कीय का मत है कि 'पृष्ठ' का अर्थ पहलदार (अटकाना, चौकोना) आदि पोधा है। यथायम माम व कोष्ठक जिनके अंदर म मधु रहता है पहलदार ही होते हैं अतः पृष्ठ सहित साम का अर्थ होगा 'मोमकण नहित मधु'। अतएव वीतपृष्ठ सोम का भी उल्लेख म स अघस या मधु निकरकर रहता है वह पोधे की छाल नहा, अपिनु मोम की पपडी है जिसका कि प्रत्येक कोष्ठक बना रहता है और जिनमे स मधु ऐसे निकल जाता है जैसे कचुल से सप। यह पपरी शब्द कदाचित् वज्रि म निकला है, जो कि वेद म मधु को आवृत रखन वाली उक्त पपरी का नाम है। अतः यह वज्रि मधु का शरीर है। उक्त विद्वाना व अनुसार ऋ० व० २ ६ १ म पव का अर्थ मोम घृण का तना है परन्तु पव शब्द ग्रीक Poros लटिन Porus तथा अंग्रेजी Pore का समकक्ष है और तैत्तिरीय ब्राह्मण म 'पव' शब्द भी इनी अर्थ म प्रयुक्त हुआ है। अतः पव शब्द का अर्थ छिद्र या रोमरूप अधिव उपयुक्त ज्वता है। और उक्त वदिक मंत्र से विश्वभि सोमपवभि के साथ भी पव का अर्थ 'तना न हाकर मधुकोष्ठा व छिद्र अधिक ठीक है क्योंकि सभी तनों व सहित अघस का पीना असंगत है—

इद्रेहि मरस्यघसा विश्वेभि सोमपवभि ।

अधु वरण तथा वन शब्दा को सामन्ता की वापरो का नाम मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होना। अधु का अर्थ पय सोम (मधु) व साथ तो शब्द की 'सुनहरी धार' तथा आध्यात्मिक और भौतिक सोम के प्रसंग म प्रकाश किरण अधिक ठीक बैठता है। अतः किरण का चन्द्र, गुक (दीप्तिमान्) तथा अधु प्रायः कहा जाता है। इद्र द्वारा मुक्ता की हुई नदियाँ भी चमकीले जल क

१ ४, ० ५

२ Vedic Index दे० '३०' 'सोम' या अघस

३ ५ ४५ १० तु० क० १ १८, २ ८, ६, ८०

४ ६ ८८ ४४, तु० क० १० १०७, २ १६ २,

५ ६ ८६, ४४

६ तै० ब्रा० ३ ७ १३ १

७ वी

८ वैदिक इण्डेक्स

९ ३ ७ १३

१० दे० वैदिक इण्डेक्स—मैक्डानल—कीय

रसो वैः सः

पवमान सोम के आनन्द की कल्पना रस रूप में भी की गई है, पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में जो मित्र, अथवा, वरुण, मरुत आदि देव हैं वे इसी पवमान के रस को पीते हैं। आनन्द की मिठास को ही लक्ष्य करके, इसे मध्व रस कहा जाता है यह रस हमारे सभी अंगों में (जिह्व—वदिक प्रतीकवाद में अद्रि कहा जाता है) प्राप्य है, चाहे वह अंग हमारे व्यक्तित्व के सूक्ष्म स्तर (परावत्) में हो अथवा स्थूल स्तर (अर्वावत्)^१ में। जब वह सूक्ष्म स्तर पर अंगरूपी अद्रियो से प्रसूत होता है तो यह सूय के समान देदीप्यमान होता है और वही स्थूल गरीररूपी कला में रस की स्थापना^२ करता है। हमारे गरीर^३ में यही पितुरस है जो सूक्ष्म-स्थूल के भेद से अश्व गो तथा तनु के प्रतीकों द्वारा क्रमशः अश्वरम गोरस तथा तनुरस कहा जा सकता है। यही पितुरस न केवल हमारे अन्तमय स्थूल शरीर के अंगों में स्थित है, अपितु इसकी स्थिति सूक्ष्म और कारणगरीर में (जिनको वदिक प्रतीकवाद में क्रमशः रजस तथा धु कहा है) भी मानी^४ गई है, और इसलिये सम्भवतः वारुण, सूक्ष्म तथा स्थूल देह के रस को ही क्रमशः अश्व, गो एवं तनु के प्रतीकों से व्यक्त

१ रस ते भिनो अथवा पिबन्ति बहव्य कवे । पवमानस्य रसम् । (ऋ० ६ ६४ २६)

२ आ नो विश्वेषा रस मध्व मिष्यन्त्वद्रथ ।

ये परावति सुन्विरे जनेष्व । य अवावति इन्द्र ।। (ऋ० ८ ५३ ३)

३ सोमो दवो न म्याऽद्रिभि पवते सुत । दधान कनश रसम् (ऋ० ६ ६३ ३)

४ यो नो रम मिमनि पिन्वा अग्ने यो अश्वाना या गवा यो तनूनाम् । (ऋ० ७ १०८ १०)

५ ऋ० १ ८ ७ ४

'वक्रियो तथा पत्थरो स पीसा हुमा सोम का पौधा' । ऋ० व० १०, ६४ म प्रावाण की स्तुति है, जिमकी परीक्षा विस्तारपूर्वक की जा चुकी है । प्रावा प्रायः वद म आध्यात्मिक या भौतिक प्रकाश सोम क प्रसंग म आता है और उनका अर्थ वही होता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है । यदि सोम मवन क लिय किसी प्रावा की आवश्यकता थी तो वह पृथ्वुध्न उलूगल' की, जिसम दो जघनों क आकार की अधिपवणी है जहाँ नीच ऊपर खूब दबा-दबाकर मधु चुभाया जाता है और मयनी (मया) म रस्मिया का बीधा जाता है । यह मयनी लकड़ी की मालूम पडती है जा 'वात क समान चपती है । उलूगल म निचाडने के बाद मधु मयनी स मया जाना था और कदाचित् वच हुए सोम को मूसल से भी कूटा जाता हो, जिममे उसका मारा रस निकल जाय । ऐसा ही कुछ रहा होगा जिसस भारत तथा ईराक दोना जगहा पर कसबाण्ड म उलूखल तथा मूसल को स्थान मिल गया ।

परंतु फिर भी यह कहना ठीक नहीं है कि ऋग्वेद म सोम क पीधे का पीसने का उल्लेख मिलता है । जहाँ एक स्थल पर ऐसा उल्लेख बतलाया जाता है, उसके प्रसंग म, 'आध्यात्मिक' तथा भौतिक प्रकाश साम का वृक्ष ही स्पष्ट प्रतीत होता है —

सत्यनोत्तमिता भूमि सूर्योत्तमिता शी ।
 ऋतेनादित्यास्तिष्ठति दिवि सोमो अधिश्रित ।
 सोमेनादित्या बलिन सोमेन पयिवो मही ।
 अथोनक्षत्रामेषामुपस्थे सोम आहित ।
 सोम मयते पापयान् यत् सपिषत्योपधिम् ॥
 साम य ब्रह्मणो विदुन तस्यानाति कश्चन ।
 प्राणामिच्छन् तित्ठसि न ते अनाति पायिष ।
 यत् त्वा देव प्रपिषति तन् आ प्यायसे पुन ।
 वायु सोमस्य रक्षिता समाना मास आकृति ।

अतः, सक्षेप म हम कह सकते हैं कि पय सोम गहद था और आधिभौतिक सोम की कल्पना इसी क आधार पर की गई थी । आधिभौतिक सोम का भूमितत्त्व जल है जिसको ऊपर कृष्ण सोम कहा गया है और उसका शु-तत्त्व प्रकाश है जो मूस चन्द्र आदि म देखा जाता है ।

शरीर म नाना अक्षिया म (अक्षिपु) फँली हुई होने मे अनेक देवजना द्वारा सूदम शरीर मे अनेक ब्रह्मसवा से युक्त होने पर अनेक वसुधा (वसव) द्वारा कारणशरीर म ब्रह्मसव स युक्त होकर विश्वेदेवा की अद्भुत देव समष्टि द्वारा तथा तुरीय धाम के उक्त तीनों धामों का सारभूत होने के कारण, उनम एकमात्र जातवेदस द्वारा प्रयुक्त की जाती है। धी द्वारा गोघन या पावन किया जाना ह उस समय अभिप्रेत होता है जब सोमरूपी विप्र का' धीतिया द्वारा सुगोभित या अलकृत होता हुआ कहा जाता है।

इन्द्रियो रस

सोम कई स्थानों पर ऋग्वेद^१ म 'इन्द्रियरस' कहा गया है। इन्द्रियरस कह लाने का एकमात्र कारण यही है कि यह इन्द्र के लिय (६ ६० ८) है और इन्द्र इसका सवप्रथम भोक्ता (३ ५८ १) अथवा इस परिष्कृत रसों का पूवपा इव (८ १ २६) कहलाता है। 'इन्द्रियरस' के रूप मे सोम मदित्तम दो स्वधात्रा के 'अपीच्य' (गुप्त) रत्न को धारण करन वाला यन की ज्योति, देवा का जनक तथा प्रिय मधु है। यही 'इन्द्रिय परमम्' कहा जाता है जो पृथिवी तथा द्यु मे पृथक् पृथक् और अन्तरिक्ष मे दोनों का सपृक्त 'क्तु' होकर रहता है।^२ आध्यात्मिक दृष्टि स पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु क्रमश स्थून, सूदम और कारण शरीर के चोतक होने पर 'इन्द्रिय परमम्' को निस्सन्धेह वही चतुस्रधाम का सोम मानना पड़ेगा जिसका सम्बन्ध ऊपर 'जातवेदस' से बताया गया है और तभी ६ ८६ १० म इन्द्रियरस को देवों का जनक कहना भी सायक हो सकता है।

शाश्वत सूय दर्शन—महान् रमणीय दशन

इन्द्रिय रस को ही सभवत 'शिवतम रस तथा भेषज वक्ष्य' कहा गया

१ शुग्मन्ति विप्र धीतिभि (६ ४० १)

२ ऋ० ६ २३ ५, ६ ८६ १०, ६ ४७ ३, ८ २ २० तु०क० ६ ६७ ८, ३ ४८ १

३ ज्योतिषश्चस्य पवने मधु प्रिय पिना देवाना जनिना विभूवसु ।

दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्य मन्त्रिन्मो मास्तर इन्द्रियो रस ॥ (ऋ० ६ ८६ १०)

४ ऋ० १ १०३ २

५ १० ६२, ७

किया जाता है। प्राच्यात्मिक दृष्टि से, शतपथ ब्राह्मण^१ में वर्णित त्रिलोकस्वरूप दु, अन्नग्नि एवं पृथिवी के प्रमग मधु, घन तथा दधि नामक रस भी यही मान जा सकते हैं और यही तीन लोक सोम के वे तीन धाम हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यही सोम द्वारा तीन प्रवता में स्थापित त्रिविध पीयूष है जिसका सम्बन्ध प्रमश वाणी मनीषा तथा उगती (वामना) से (ऋ ६ ४७ ३) प्रतीत होता है।

धी-रूपी छलनी

यही ऋषि-सभृत रस ऋग्वेद की नवमण्डलीय पावमानी ऋचाओं का विषय है (६ ६८ ३१ ३२) जिसकी अचिबती पवित्र (छलनी ६ ६७ २४) अन्न जगत् में अग्नि ब्रह्म की अचियो के बीच फनी हुई (६ ६७ २३) बतलाई गई है। इस प्रसंग में पावमान साम का छानने वाली^२ उक्त आंतरिक छलनी (पवित्र) साम के तीन धामों तक ही सीमित प्रतीत होनी है—इनमें से प्रथम में उसके द्वारा अग्नि ब्रह्म हमको (न) पावन करने की क्षमता रखता है (६ ६७ २) दूसरे में अग्नि उस पवित्र (छलनी) के साथ-साथ ब्रह्मसवा (ब्रह्मसव) के द्वारा हम (न) पावन (६ ६७ २४) कर सकता है, तथा तीसरे में सविता देव पवित्र तथा ब्रह्मसव (पवित्रेण मयेन च) दोनों के द्वारा मुझे (मा) चारों ओर में पावन करने की सामर्थ्य (६ ६७ २५) रखने वाला कहा गया है। इन तीनों धामों के वर्णित एवं दम्बरूप संभवत एक चतुर्थ धाम में हैं, जहाँ सविता सोम अग्नि उक्त धामों द्वारा हमको (न) पवित्र करने की क्षमता रखता है—

त्रिभिष्ट्य देव सवितर्वपिष्ठ सोम धामभि

अग्न दक्ष पुनीहि न (६ ६७ २६)

इस प्रसंग का उपमहार करते हुए उक्त सूक्त के ही अगने मात्र में इहीं चार धामों की मानो 'याख्या करते हुए बतलाया' गया है कि प्रथम में देवजन गण, दूसरे में वसुगण तीसरे में विश्वेदेवा और चतुर्थ में जातवेदस 'धी' के द्वारा ही पवित्र करते हैं। इससे स्पष्ट है कि आनन्दस्वरूप पावमान सोम जिस छलनी (पवित्र) के माध्यम से पावन क्रिया करता है वह 'धी' है जो स्थूल-

^१ शत ब्रा ७ ५ १ १

^२ दलिय पृ० ६ ६७, २० २७

^३ पुनतु मा देवजना पुनतु वमको धिया ।

विश्वेदेवा पुनीत मा जातवेद पुनीहि मा ॥ ६ ६७ २७

शरीर म नाना अर्चियों म (अर्चिषु) फैली हुई होने से अनेक देवजना द्वारा मूह्म शरीर मे अनेक ब्रह्मसवा से युक्त होन पर अनेक वसुधो (वसव) द्वारा कारणशरीर म ब्रह्ममव से युक्त होकर विन्वदेवा की अर्द्धत दव समष्टि द्वारा तथा तुरीय धाम व उक्त तीनों धामों का सारभूत होन व कारण, उसम एकमान जातवेदस द्वारा प्रयुक्त की जाती है । धी द्वारा गोधन या पावन किया जाना ही उस समय अभिप्रेत होता है जब सोमरूपी विप्र का धीतियों द्वारा मुग्धोमित या अलकृत होता हुआ कहा जाता है ।

इन्द्रियो रस

सोम कई स्थानों पर ऋग्वेद^१ म इन्द्रियरम कहा गया है । इन्द्रियरम कहलान का एकमात्र कारण यही है कि यह इन्द्र इन्द्र के लिय (६ ६ ८) है और इन्द्र इसका सबप्रथम भाक्ता (३ ५८ १) अथवा इस 'परिकृत रमी' का पूवपा इव (८ १ २६) कहलाता है । 'इन्द्रियरस' व रूप मे सोम मन्त्रिम^२ दा स्वधामा के अपीच्य^३ (गुप्त) रत्न को धारण करन वाला यन की ज्योति त्वा का जनक तथा प्रिय मधु है । यही इन्द्रिय परमम्^४ कहा जाता है जा पृथिवी तथा धु म पृथक् पृथक् और अन्तरिक्ष मे दोनों का सपृक्त^५ कतु^५ होकर रहता है ।^५ आध्यात्मिक दृष्टि से पृथिवी, अन्तरिक्ष और धु त्रमग स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर के द्योतक होने पर, 'इन्द्रिय परमम्' को निम्सदेह वही चतुर्थधाम का नाम मानना पडेगा जिमका सम्बन्ध ऊपर 'जातवेदस' म बताया गया है और तभी ६ ८६ १० म इन्द्रियरम को दवों का जनक कहना भी साथक हो सकता है ।

गाश्वत सूय दशन—महान् रमणीय दशन

इन्द्रिय रस को ही सभक्त 'गाश्वतम रम तथा भेपज वरुय कहा गया'

१ शुग्मन्नि विप्र धीतिनि (६ ५० १)

२ ऋ० ६ २३ ५ ६ ८६ १० , ६ ४७ ३ ८ ३ २० तु०क० ६ ६७ ८ ३ ४८ १

३ ज्योतिषकस्य पवत मधु प्रिय पिना दवाना जनिना विभूवसु ।

दधाति रत्नं स्वधयोरपाच्य मन्त्रिन्नमो मन्सर इन्द्रियो रस ॥ (ऋ० ६ ८६ १०)

४ ऋ० १ १०३ २

५ १० ६ २ , ७

है। इस शिवतम रस से सम्बद्ध है एक महान् रमणीय दग्धन^१ जो वस्तुतः 'शाश्वत मूय' दग्धन ही है। इसकी पुष्टि ऋ० व० ६ ११३ स होती है जहाँ 'इन्द्राय इन्द्रो परिव्रज्य' टेक के साथ इसी सोम का विस्तृत वर्णन है। वहाँ इस सोम का सबन और परिवर्तन ऋतवाक, सत्य, श्रद्धा और तप (२ से ४) क द्वारा होता है यह साम का वह सत्य रूप है जिससे उसकी अनन्त रसधारारें बहती हैं और जिमम पुनः वे रसधारारें ब्रह्म के द्वारा पवित्र होकर एकत्र होती हैं (१), इसी सोम से आनन्द उत्पन्न होता है (६) और इसी क अमृत लोक में अजस्र ज्योति का निवास है एव स्व' छिपा हुआ है (७)।

स्वपति इन्द्र और सोम

ऊपर जिसको शाश्वत मूय रसा अथवा महान् रमणीय दग्धन कहा है वह यहा की भाँति सबत्र स्व स सम्बद्ध^२ है और इस स्व का पति^३ या तो इन्द्र या इन्द्र सोम दोनों कहे गये हैं। सायण न 'स्व' शब्द का अर्थ प्रायः मूय किया है, परन्तु स्व निश्चिन्त रूप म मूय से भिन्न^४ छावापृथिवी स परे एक वृहद ज्योति (३, ३४, ४) का वृहद द्यौ है जिसको उरलोक उर उ लोक अथवा उ लोक कहा जाता है जहाँ महान् रमणीयता के अर्थ ज्योति (अविन्दु ज्योतिर्वृहते रणाय)^५ अथवा स्व ज्योति प्राप्त होती है जो अभय स्वस्ति कहलानी^६ है। अन्त श्री अरविन्द न इन्द्र एव सोम से सम्बन्धित इस स्व' का ठीक ही 'मन न परे स्थित सत्य एव अमर सौन्दर्य का एक अतिमानस स्वर्ग लोक माना है और एस लोक की सारभूत तात्त्विक सत्ता स्वरूप जो ज्योति है उने सत्य की ज्योति कहा^७ है। श्री अरविन्द क शब्दों म यह एक ऐसा स्वर्ग है जिम एक प्रकार के अधकार न हमारी दृष्टि से छिपा रखा है हमको खोजकर प्राप्त करन तथा दृष्टिगोचर बनान की आवश्यकता होती है, और इसकी प्राप्ति और दग्धन

१ महे रणाय अथमे १० १ १

२ ज्योक् च मूय दरो (१० ६ ७)

३ दोगय ऊपर 'वर्तिक सोम', अ० वे० १० २, २६ ३२

४ अ० वे० = ६७ ११

५ अ० वे० ६ १२ २

६ अ० ६ ७२ १ ६ १६ ४ अरविन्द 'आन दी वे', पृ १७२

७ अ० वे० ३ ३४ ४

८ अ० वे० ६ ५७ ८

९ श्री अरविन्द 'आन दी वे', पृ १७३

निभर करता है उपा के जन्म पर, सूय के उदय पर तथा गुहा में छिपी सूय की गाया के छूट भागन पर । यन्म सफलता प्राप्त करने वाले आत्मा स्वदृश एव स्वविद, स्व को देखने वाले तथा स्व को पाने वाले हो जाते हैं, क्योंकि विद धातु का अर्थ है पाना और जानना और एक दो स्थानों पर तो विद धातु के स्थान पर तो स्पष्टतः 'वा धातु का प्रयोग किया गया है और ज्याति को अधकार म से जानन की बात कही गई है ।

ज्ञानशक्ति और इन्द्रिय-रस सोम

अतः कोई आश्चर्य नहीं कि अज्ञान के प्रतीक वृत्र अहि का वध किये जान पर अधकार स निकलकर अग्नि, मूय एव इन्द्रिय रस सोम देदीप्यमान होते हुए बताये गये हैं —

निरग्नीषी हरुचुनिरु सूर्यो नि सोम इन्द्रियोरस

निरतरिक्षादधमो महमहि वृत्र तदिन्द्र पौंस्यम ।

यह सब परिणाम है इन्द्र के महान् पौंस्य—अहि अथवा वृत्र के वध का, जिसका वधन इसी प्रकार वेद में बहुत मिलता है । अतः इन्द्रिय रस सोम का आविष्कार वस्तुतः ज्ञानशक्ति द्वारा अज्ञान के विनाश पर अवलम्बित है और इस ज्ञानशक्ति का प्रतीक होता है इन्द्र । इसकी पुष्टि ऐतरेय उपनिषद के एक रूपक से होती है जिसमें इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति का मूल इन्द्र को बतलाया गया है । यथाथ म इन्द्रिय का अर्थ ही है इन्द्र सम्बन्धी या इन्द्र का । यहाँ सक्षप में उपनिषद का रूपक दिया जाता है—आत्मा न पुरुष की बनाया । उसमें चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों स्थापित की । फिर उसने सोचा कि 'मेरे बिना तो यह सब व्यर्थ है ।' परन्तु प्रवश किस द्वारा स करे ? चक्षु आदि में से वह कोई एक इन्द्रियमात्र तो था नहीं वह तो सबका चालक था । अतः वह गिर की विद्वति (छिद्र ब्रह्मरन्ध्र) के द्वारा धुम गया । उसके तीन निवास स्थान (कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर) तथा तीन स्वप्न (सुषुप्ति, स्वप्न जागृति) है ।'

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों का सञ्चालक इन्द्र माना जाता है और यह इन्द्र आत्मा का वह रूप है जो तुरीयावस्था और ज्ञान-दमय कोण को छोड़कर तीनों शरीरों तथा तथा तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है । अतएव मनोमय कोण तथा विज्ञानमय कोण के समस्त ज्ञान विज्ञान मेधा मनीषा, सकल्प प्रज्ञान आदि की ब्रह्म इन्द्र प्रजापति या मनोपा बताया गया है —

कोश्रमात्मेति वयमुपास्मह कतर स घात्मा ? यन वा पर्यति येन वा
 शृणोति यन वा गघानाजिघ्रति यन वा वाच्य व्याकरोति यन वा स्वादुचा
 ञ्बादु च विजानाति यदतद हृदय मनचतन् सनानमाचान विजान प्रनान
 मया दृष्टिष तिमनीया जूनि स्मृति मकल्प ऋतुरमु कामो वरा इति
 मबाप्यवैतानि प्रनानमस्य नामधेयानि भवन्ति । एष ब्रह्म प इद्र एष प्रजापति ।

अत इद्र यथायन नान प्रत्रिया वा प्रतीक है और नान प्रत्रिया वस्तुत
 एक प्रकाशन प्रक्रिया है । जब हम कहते हैं कि हमने समुक्त वस्तु जान ली
 तो इनका अर्थ यही होता है कि वह वस्तु पहले हमारे लिय छिपी थी अघकार
 म थी और अब वह प्रकाश म आ गई । जिन प्रकार हमें बाह्य गद्य, रूप
 आदि प्रकाशित हो जान हैं उसी प्रकार हम इनके पूर्वगृहीत चित्र या उनके
 आधार पर बन हुए विचार आदि भी प्रकाशित हो जा सकन हैं ।
 नान व इस प्रकार के लिये ससृष्ट म चित शब्द का प्रयोग चेति'
 अत नानशक्ति को चित् या चेतस भी कहत हैं । चित् का प्रयोग चेति'
 अचेति आदि रूप म विभिन्न प्रकार दवों के साथ ऋग्वेद म मिलता है और
 इद्र की एक प्रतिष्ठा चेत्या का भी उल्लेख मिलता है जिसका द्वारा वह
 अघकार की शक्तियों का भेदन करता प्रतीत होता है क्योंकि वही तो वसुधों,
 रुद्रों तथा आदित्यों द्वारा बनाया हुआ उग्र चेत्या अघिराज' है यद्यपि मित्र,
 अयमा वरुण आदि सभी अदितिपुत्र अत के चेत्या और अचेतस का भी
 चेतन करन वाले (ऋ० ७६० ५६) कह गय है और हिरण्यपाणि मविता भी
 एक स्थान पर चेत्या' कहा गया है । इद्र की इन्द्रियम्' के साथ चित्' के
 अतिरिक्त दृग या विद धातु का प्रयोग भी नानाथ' म ही हुआ है ।

अन इन्द्रियरस सोम को चित् शक्ति या नानशक्ति से सम्पृक्त अत द या
 विदानन्द कहना उचित होगा । इसीलिये जिन आवापृषिवी (स्यल-सूधम) से
 महिमान इन्द्रिय करने वाले और सोमपायी इद्र के वधन के हतु गुल्म
 रसा के लिए प्राथना की गई है उनके लिये सचेतता विशेषण प्रयुक्त हुआ'
 (१० ८६ १४)

१ ऋ० १६३ ४ ६७, १२ ११६, ४ आदि
 २ कई त्विद् स्तु इ चेत्या सदधन्य यद्रिनदो रघ षव ।

३ ऋ० १० १२८ ६

४ ऋ० २ २२ ५

५ ऋ० ६ ७७ ३ ४

ननस्य दवापृषिवी सचेतना विशेषितैरनु गुप्ताकाम् ।
 ननस्य दवापृषिवी सचेतना विशेषितैरनु गुप्ताकाम् ।

ननस्य दवापृषिवी सचेतना विशेषितैरनु गुप्ताकाम् ।
 ननस्य दवापृषिवी सचेतना विशेषितैरनु गुप्ताकाम् ।

(ऋ १०, ११३ १)

है क्योंकि वही तो 'मयुज रस' चचयमाण इन्द्र तथा ज्येष्ठ इन्द्रिय है जिसको कवि लोग मनीषा क माध्यम स पहिचान' पाते हैं और यही वह मदितम मत्सर 'इन्द्रियरस है जो ज्ञान रूपी अभीच्य रत्न का धारण करने वाला मनुष्या द्वारा अपने भीतर अतर्हित किया गया मनस्पति अमत्य वृत्ता तथा स्रय एव सभी धामा को प्रकाशित करनेवाला विश्ववेत्ता सोम है (६ २८, १६)। इसी सोम को अयन फिर (६ २७ २५) स्वजित् विश्वविद हिरण्ययु पवमान कहा जाता है जिम अदिति की गोद म (६ २६ १३) विप्र लोग सूक्ष्म धी अथवा मघा द्वारा निवालत है। परावत लोक म मनि द्वारा सेवित एव धी द्वारा स्थापित जो सोम देवो म जामरूक कहा जाता है (६ ४४, २३) वह भी उक्त चिदानन्द का प्रतीक भूत इन्द्रिय रस ही माना जा सकता है। चतस मति, मम चित्ति, धी अण्वी धी धीति आदि अनक नामपरक गदा क सदम म पयुक्त^१ सोम शब्द भी निस्तदह इसी इन्द्रियरस का द्योतक है और यही बात उस साम के लिय कही जा सकती है जो मनश्चित् एव मनस्पति है और इन्द्र क पानाथ तथा मादनाथ परिपिञ्चित होता हुआ (६ ११ ८) वतलाया गया है अथवा जिसको विप्र कवि विपिञ्चित विचक्षण विप्र वीर आदि अनेक मधाविनाम^२ दिये गय हैं। एक रूप म वह एक सूक्ष्म बुद्धि (अण्वया धिया) क द्वारा चलता है परन्तु दूसरे रूप म वह अनेक बुद्धियो के समान आचरण करता है एक परावत स सम्बन्ध रखता है दूसरा अर्वाचिन स—

एष धिया यात्यथ्या नूरो रयेभिरानुभि गच्छन्निद्रस्य निष्कृतम्

एष पुरु धियायते बृहते देवतायतये । यत्रामुनाम आमने

(६, १५ १२)

वृत्त्वोरस

उक्त जानाश्रयो सोम (जिसको इन्द्रियरस कहा गया है) के अतिरिक्त एक त्रियाश्रयो सोम की कल्पना भी है जिसको ऋग्वेद म अनेक स्थानो पर (९, ७६ १, ७७ ५, ८४ ५) 'वृत्त्व रस कहा गया है। सायणाचार्य ने वृत्त्व

१ ऋ० वे० १० ११३

२ ६, १६, ४, १५ १, ८, २०, ३ ६, ४२, १ आदि

३ ६, ४४, २, ५, २७, १, २६, १ ६ ६ २०, ३, १८, २ इत्यादि

का अर्थ एक दो स्थानों पर कर्त्तव्य', परन्तु प्रायः कमण्य' क्रिया है। निस्मदेह यह ऋग्वेद क्रियाशीलता का द्योतक है और इसका प्रयोग साम के प्रतिरिक्त मुख्यतः अग्नि के लिए हुआ है। अग्नि घोडे व समान कृत्य (ऋ० ६ २, ८) है और जिस ऋभु के साथ कृत्यमद का जो विशेष सम्बन्ध (ऋ० १० १४४ २) प्रतीत होता है वह भी वस्तुतः अग्नि का दौत्य पाकर ही कृत्वी हुआ है—

अग्नि दूत प्रति यदश्वीतनादय कर्त्वा रथ उतेह कृत्य ।

धेनु कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भातरन् व कृत्येमसि ॥

(ऋ० १ १६१ ३)

जिम प्रकार ऋभु अग्नि का अनुकरण करके कृत्वी बनता है उर्गा प्रकार हवि के माध्यम से कृत्वी होने वाला इन्द्र' भी अग्नि के सयोग से ही क्रियाशील होता माना जायगा। अथवा कृत्वी हाना अग्नि की ही मौलिक विगपता' है, क्योंकि कृत्वी ऋग्वेद का आधारभूत कृत्व' एकमात्र अग्नि से ही ऋग्वेद में सबधित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं क्योंकि कृत्व या क्रियाशीलता बल के बिना सम्भव नहीं और बल का पुत्र (सहस्रपुत्र सहस्रानपात) होने का सौभाग्य अग्निदेव' को ही प्राप्त हुआ है —

त्वष्टि पुत्र सहसो वि पूर्वोद्वेषस्य यत्पूतयो वि याजा (ऋ० ३ १४ ६)

अतः कृत्व्यरम नामक सोम का नाम अग्नि की क्रियाशीलता के कारण ही पडा प्रतीत होता है। इसीलिये कृत्य रम को द्यु का धारक दवो का बल सत्व में अर्ध व समान तथा इन्द्र के भी बल को प्रेरित करने वाला इन्द्र' कहा गया है। कृत्यरस के लिए चक्षि ऋग्वेद प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ सायण के अनुसार सवस्यकर्ता' है। अथवा (६ ८४) भी साम को कृत्यरस कहा है तो उसे सम्पूर्ण भुवनो को स्थापित करने वाला उनमें सबत्र विचरण करने वाला, सश्लेषण करने वाला तथा विश्लेषण करने वाला सहस्रजित् धनजय तथा वायु द्वारा समुद्र को उद्वेलित करने वाला कहा गया है। अग्नि के सयोग से ही साम

१ ऋ० ६ ७६ १

२ ऋ० १० १५६ ३ १०, १७४, ४

३ ऋ० १० १५ १२

४ ऋ० ३, १८ ४, ५४ १

५ ऋ० ३ १८, ४ १४, ४ १६ ५ १८ ४ २१, ५ २८ ५ इत्यादि

६ ऋ० ६ ७६, १ ४

७ ऋ० ६ ७७ ५

में क्रियाशीलता आने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अग्निपीथी नामक सयुक्त देवता के मूक्त (ऋ० १ ६३) में पणिया स गाया को मुक्त करान, वृष का वध करन, बहूतो के लिए एक ज्योति को पाने द्युलाक में ज्योतियो की स्थापना तथा मिथुओ की मुक्ति में प्रयुक्त होने वाला बल जो अमन इद्र का बतलाया जाता है वह वस्तुतः इन्ही दोनों का सयुक्त रूप है परन्तु भिर भी इस सयुक्त देवता के इस बल का भी मूल स्रोत वही अग्नि मानना पडगा जा यथायत वृत्वी है और जिसका इसीलिये 'दक्षणा दक्षपति' कहा जाता है। अतः श्रुत्य रस का क्रियानन्द बटना अनुचित न हागा।

अग्नि और सत्

अग्नि के दक्षपतित्व का रहस्य सम्भवतः दक्षजन्म के प्रथम में अग्नि के 'प्रथमजा ऋतस्य' होने में है। ऋ० व० १० २ ७ में कहा गया है कि अग्नि के उपस्थ में दक्ष का जन्म हुआ, तो परम याम में असत् और सत् दोनों थे, और अग्नि ही प्रथमजा ऋतस्य' था। ऋ० व० १० ७२ के अनुसार भी दक्ष जन्म के पूर्व युग में असत् से उत्पन्न होने वाला सत् ही सम्भवतः प्रथमजा ऋतस्य अग्नि है। ऋ० व० ३ १७ में अग्नि की द्विविध सत्ता बताई गई है एक में वह स्वधा में स्थित है और दूसरी में वह तीन आयुषों द्वारा देवयज्ञत कर्त्तव्य गम्भु बनता है। यहा स्वधा में स्थित होने का अभिप्राय सम्भवतः उमक स्वयम्भू रूप से है जिसकी तुलना ऋ० व० १० १२६ २ के 'स्वधायातदक' से की जा सकती है जो सम्भवतः हृदय के भीतर अमत् में स्थित वह सत् का वायु भी है जिसको कवि लोग 'मनीषा' द्वारा प्राप्त करते हैं। वस्तुतः यह एक रश्मि' है जो नीचे ऊपर सबसे फली हुई है, इसका रूप है—एक में स्वधा है दूसरे में प्रयति एक में रनोधा, दूसरे में मग्निमा। अग्नि के इन दो रूपों को अमन पूर्व' और नय' भी कहा जाता है जिनको सम्य करके ऋत्पद के प्रथम मूक्त में ही अग्नि का पूर्व और नूतन श्रुपिया का ईदय कहा गया है। पूर्व रूप सत् है जिससे नय (होना या यजनकता) क्रिया

१ ऋ० १ १५ ६

२ सतो बभुनसति निग्बिन्त्सु हृदि प्रनोष्या कवया मनाया (ऋ० १० १०६ ५)

३ निश्चवानो कित्ता रश्मिरपामथ रिवग्ना इत्परि निग्बिन्त्सु।

रतोषा आमन् मांडगान आसन् स्वधा अक्तात् प्रयति परग्नार (ऋ० १० १०६ ५)

४ ऋ० १० ५ ७ ३ १७ ५

५ ऋ० १ १०५ १०

शील रूप उत्पन्न होता है—

अग्ने तय त्वदुक्थ्य देवेष्वस्त्याप्यम्

(१ १०५ १३)

स न सत्तो मनुष्यदा देवान् प्रक्षि विदुष्टर ॥
अत सोम के सम्पर्क से जहाँ अग्नि के दूसरे रूप में त्रियानन्द देखा जा सकता है वहीं प्रथम रूप में उसको सदानन्द कह सकते हैं।

साम्यरस

जिम प्रकार इन्द्र और अग्नि के सम्बन्ध से सोम को ऊपर इन्द्रिय रस एवं कृत्व्यरस की सना मिली उसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि से पृथक् शुद्ध सोम की दृष्टि से उम सोम्यरस भी कहा गया है। सोम्यरस के भी पूर्व और नूतन दो भेद माने गये हैं। पूर्व सोम्यरस सबश्रुष्ट (बहुह) है, इसी को त्व पूर्व्य भेद भी कहा गया है जो त्व मद्य मद भी बहुला सकता है। पवमान सोम अपन इसी रूप में स्व ज्योति प्रदान कर सकता है, मूय के दाश्वत दान करा सकता है। अर्पण नय रूप में सोम्यरस प्रेरणा पाकर मधुशयुत पवमान बनता है और प्रत्येक गति (यामनियामनि) के साथ अनेक कामनाया (क्यासु) के रूप में इमका भक्षण (आस्वादन) किया जा सकता है (६ ६७ ६ १२)। यह सोम्य मधु एवं और अदिति का ऋत (६ ७४ ३) अथवा ऋत का गम (६ ६८ ५) है एवं स्वधा द्वारा प्राप्तपद से सम्बन्धित है (६ ६८ ४), दूसरी ओर यह दक्ष मन द्वारा (दक्षेण मनमा) कवि रूप में जन्म लेता है और अनेक धाराया अथवा प्रजाओं से सम्बन्ध रखन वाला कहा जा सकता है (६ ७४ ६)।

सोम का यह पहला रूप परावत में है और दूसरा अर्वावत में जहाँ संभवतः वह परावत से श्यन द्वारा ले जाया जाता है जिसके फलस्वरूप यह सोम्य मधु सहस्रा सवना में परिणत हो जाता है। इन दोनों में से पूर्व सोम्यरस का राजा स्वय इन्द्र है (६ २० ३ ६ ३७ २) जो उसको सबप्रथम पीता है

१ ऋ० ६ ६७ ८

२ ऋ० ६ ६ ३

३ ऋ० ६ ६ ०

४ ऋ० ६, ४, २ ६ १, १०५ १५

५ ऋ० ६ ६८ ५

६ ऋ० ८, ५३६ ३ ६ ६८ ६ ४ २६ ४ ७, २७, २ १

(३, ४८ १, ६, ३७ २, ८ १६, ४) ।

सच्चिदानन्दरस

इससे प्रकट है कि सोम्यरस के पूव रूप को शुद्ध आनन्द कहा जा सकता है जिसको पीकर ही इन्द्र भी शुद्ध सोम्य (८ ६५ ८) होकर वृत्र का वध करता है, शुद्ध रसि धारण करता है (८ ६५ ८ ६) तथा सभी कुछ शुद्ध ही करता है । निस्संदह इस पूव्य सोम्यरस से सम्बन्धित इन्द्र का वही पूवरूप है जिसे इन्द्रिय रस क प्रसंग में चित कहा है और इसी से अग्नि क सत' नामक पूवरूप का सम्बन्ध माना जा सकता है । अतएव तीनों के उक्त पूवरूप का सत चित एव आनन्द का संयुक्त रूप कहा जा सकता है जो पूववर्ती साहित्य में सच्चिदानन्द ब्रह्म की कल्पना का आधार रहा हीगा । इस रूप में अग्नि इन्द्र और सोम परस्पर संपृक्त रूप में पूव्य ऋत (१ १०५ ४) के द्योतक हैं जब कि दूसरे रूप में पृथक् पृथक् और नाना देवा में विभक्त होकर ऋत को नव्य रूप (१, १०५ ४) प्रदान करते हैं ।

ऋ० वे० १० ७२ में देवसृष्टि के दो युगों की कल्पना मिलती है—पूय या प्रथम युग में असत् से सत् का जन्म होता है और अदिति से अनेक देवों या आदित्यों की उत्पत्ति सम्भवत उत्तर अथवा नव्य युग की बात है । पूव सृष्टि स्वपिति नामक विनामय पुरुष की अवस्था है जिससे सारे प्राण सारे देव, सारे लोक तथा सारे भूत उसी प्रकार निकलते हैं जिस प्रकार मकड़े में जाला तथा अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं—

स यथोणनाभिस्तत्तुनोच्चरेत् यथापे क्षुद्रा घिसकुलिगा व्युच्चरत्येवमेवा
स्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (ब०
उ० २, १ २०)

श्येन, सोम तथा इन्द्र

विण्डाण्ड का विज्ञानमय पुरुष मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय का बीज या गभ है और वही मानो विकसित होकर मनोमय से लेकर अन्नमय तक की सारी गतियों में अभिव्यक्त होता है । इसी विज्ञानमय पुरुष को देवमन का जन्मस्थान कहा गया है जिसको कवि ही जानता है । मन प्राण, चक्षु श्रोत्र आदि की गतियाँ ही 'विश्वदेवा' हैं जो उक्त विनामयरूपी वामन की उपासना करते हुए कहे जाते हैं (क० उ० २, २, ३) और सम्भवत यही वामन और उसक

अथ दो भ्राताभ्यो (अग्नि एव इद्र ?) अथवा केवल वामदेव^१ की गर्भावस्था है जो वरुण इद्र, पञ्चम यम ईगान, वसु आदित्य, पूषा आदि देवों के रूप में उत्पन्न होता हुआ कहा जाता है। अतः विज्ञानमयकीर्ण का उचित सञ्चिदा नन्द स्वरूप ही अग्नि सोम तथा इद्र और अथ आदित्यो का उदगम स्थान है जिसे इद्र वामदेव या देवा की गर्भावस्था भी कहा जाता है। यही कारण है कि अग्नि सोम तथा इद्र का जन्म प्रायः एक साथ-साथ वेदों में मिलता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण ऋ० वे० ४, २७ और ४, २६ में देखा जा सकता है। यद्यपि इन दोनों सूक्तों के 'ग्रह' रूप में बोलने वाले क विषय में अनेक मत हैं परन्तु यदि अग्नि इद्र और सोम के उपयुक्त सबंध को स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गर्भावस्था में तीनों एक ही विज्ञानमय की उस सञ्चिदानन्द इकाई में संपृक्त होते हैं जिसको ऐ० आ०, ऐ० उ० तथा वृ० उ० के अनुसार वामदेव आत्मा या ब्रह्म कहा जा सकता है और जो पुनः त्रिविध रूप में व्यावृत्त होकर कृत्य, इन्द्रिय तथा सोम्य होकर मनोमय म लेकर अन्तमय तब की नानारूपात्मक सृष्टि में प्रकट होता हुआ अनेक कर्मों और अमो सक्त्प विकल्पो और विचारो, तथा सचारिया, व्यभिचारियो एव स्थायी भावों का रूप^२ धारण करता है। संपृक्त अवस्था ही परावत्^३ अथवा इद्रावत् बृहत् (४, २६ ६ ७ ४) है जहाँसे स्वाधा द्वारा देवजुष्ट सोम्य मधु मद्र, मद सोम अमु को द्यन या सुपण (अग्नि) इद्र या मनु के हेतु (४, २६, ४ ५ ७ ४ ५) इतनी अधिक मात्रा में (पुरधी) लाता है कि अर्वावत् (मनोमय) में वह सहस्रो और अमृतो सवना (सचारियो भावो) के लिये पर्याप्त हो सकता है।

रस, काम और इच्छाशक्ति

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि विज्ञानमय की उक्त सञ्चिदानन्द इकाई ही अन्तमय में परिणत हो जाती है। इस दृष्टि से तत्तिरीय उपनिषत्^४ के 'रस' में कहा जा सकता है कि 'वह आत्मा रस ही है। इसी रस को प्राप्त करके व्यक्ति अन्तमय होता है। यदि यह अन्तमय न हो तो कौन जीवित रहे और कौन प्राणन कर। यही सब को अन्तमय करता है।' यह

१ वे० उ० १ ४, १० ११, ०० उ० २, ५, ऋ० वे० २६ २८ ।

२ वे० २०, पू० १४३ १४४ ।

३ वे० २० पू० १४४-१४८ ।

४ तै० उ० २, ७ ।

आत्मा ही वह यक्ष है जो 'गरीर रूपी अष्टचक्रा नवद्वारा त्रयोध्यापुरी के भीतर ज्वालिमण्डित हिरण्यकोश' में विराजमान बताया जाता है और जो हमारे शरीर का समस्त हृदयतत्त्व एवं भूर्भातत्त्व अनुस्यूत करके स्वयं उसे शीपस्थानीय मस्तिष्क से संचालित करता है। यह हृदयतत्त्व ही वस्तुतः हृदय की सवेदनशक्ति है जिसके द्वारा हम शृंगारादि रस, रति आदि भाव तथा व्यभिचारी और नाट्यिक नाम के अस्थायी भावा का अनुभव करते हैं। इसी शक्ति के द्वारा हमें प्रिय या अप्रिय, मन के अनुकूल या मन के प्रतिकूल, सुन्दर या असुन्दर की पहचान होती है। उक्त दोनों प्रकार की अनुभूति के साथ एक ध्वनि जुड़ी हुई है और वह है 'इ' जो हमारी नाक से उच्छ्वास के साथ निकल पड़ती है। अतः इ को संस्कृत में प्रिय तथा अप्रिय दोनों का सूचक समझा जाता है और वह कामदेव का नाम है क्योंकि उक्त सभी अनुभूतियाँ काम के अंतर्गत ही माना जा सकता है। इस इ के भी दो रूप हैं—एक तो हमारी विविध इंद्रियों द्वारा स्थूल रूप रस आदि के आस्वदन में प्रिय अप्रिय का अनुभव करने वाला, तथा दूसरा सूक्ष्म विचारा, कल्पनाओं आदि में उसी अनुभूति को प्राप्त करने वाला। पहले को स्थूल काम तथा दूसरे को सूक्ष्म काम कहा जा सकता है। इन दोनों अवस्थाओं में काम 'मनोभव' (मन में उत्पन्न होने वाला) है और यथाथ में एक है। इसका व्यापार मनोमय से अनमय तक ही सीमित है परन्तु इसका पूवरूप एक दूसरा 'काम' है जिसे मन का भी प्रीति कहा गया है। यह सूक्ष्मातिमूक्ष्म 'काम विज्ञानमय की वस्तु है और गच्छिगानन्द के गानन्द अर्थ का ही स्वरूप है, अतः इसका प्रज्ञान, मनान, गानान आदि के साथ काम भी एक नाम है। यही अद्वैत अनुभूति रस नाम से कही जाती है, यह केवल प्रियता मात्र होने से ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाने योग्य है। इसी को लक्ष्य करके साहित्य रचनाकार ने लिखा है—

सत्त्वोद्रेकादव्यण्डस्य प्रकाशानन्दविमय ।

वेद्यांतरस्पशशू यो ब्रह्मानन्द सहोदर ।

इसी काम अथवा इ की शक्ति इच्छा (इ = काम, छा = वञ्ची) शक्ति है जो मनोमय से लेकर अनमय तक विविध रसों भावों, संचारियों आदि के रूप में प्रकट होती है।

१ अ० वे० १० २, ३, ३२ ।

२ अ० वे० १० २, २६ ।

३ काममन्त्रे 'मनवत् मनसो रेत प्रथम यन्मयी' (अ० वे० १६ १, २) ।

४ १० ३० २, २, १ ।

अन्न और रस

उक्त अनेकरूप रसों का सर्वप्रथम अन्न से है। बर्दिक षाडमय से अन्न बन साधारण भोजन का ही नाम नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मन, वाक और प्राण को भी आत्मा का अन्न कहा गया है। ऋग्वेदीय अन्नसूक्त (१ १८७) में अन्न को महान् धम महान् बल बताया गया है (१) जिसके भोज द्वारा ही, मनोमय (द्यु) प्राणमय (अन्तरिक्ष) तथा अन्नमय (पृथिवी) के त्रिलोक में रहने से अन्न कहलानेवाला इन्द्र वृत्र को पवहीन कर डालता है। हमारे भीतर प्राणमय म प्राण शक्तियों (रजामि) का आश्रय लेकर तथा मनोमय (द्यु) में मानसिक शक्तियाँ का आश्रय लेकर उक्त रस (जो अन्न सोमास इन्द्र प्रादि कहे जाते हैं) विविध रसों के रूप में स्थित होता है (४) और इन रसों का अन्न भीतर (प्राण्मात्मिक) आस्वादन करनेवाले ही (स्वाधानो रसाना) सम्मानपूर्वक गदन सीधी रसकर चल सकते (५) हैं क्योंकि इही लोगों का अन्न में छिपा देवमन (६) 'चारु होकर तथा अहि (वृत्र) के वध में सहायक होकर उसके पवतो से प्रकट हुए माधुय के फलस्वरूप (७) भौतिक अन्न का भी मधुमय एवं भक्षण्य बन देता है। वस्तुतः तभी आप औषधियों (वनस्पतियों) गवाशिरों (गो दुग्ध प्रादि से युक्त) अथवा यवाशिरों (यव प्रादि अनाज से युक्त) प्रादि रूपों में अन्न शरीर को मोटा (८ १०) बना सकता है और तभी मनुष्य देवा व साथ सहभोज (सधमाद) में सम्मिलित होने के योग्य (११) हो सकता है। परन्तु प्रश्न होता है कि इस अन्न का रस द्वारा देवों का सधमादन कैसे बताया जाता है।

मोमरस, सवन और सधमादन

उक्त अन्न के मदभ म रस वस्तुतः हमारे साधारण भौतिक अस्तित्व की अनुभूति है। अरविन्द के शब्दों में हमारा साधारण जीवन तथा अस्तित्व एक अघकारमयी अथवा अधिक-से अधिक एक नक्षत्रमण्डित रजनी है। उपा का भागमन परम सत्य रूपी सूर्य के उदय से होता है और उपा व साथ ही सक्रिय यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के द्वारा स्वयं उपा तथा खाया हुआ मूय पनायन करती हुई रात से निरन्तर मुक्त कराया जाता है और ज्योतिमयी गायों को पणिया की अग्नेरी गुफा से छुड़ाया जाता है। यज्ञ द्वारा ही हमारा स्वर्गीय पुरधि (आप) की वृष्टि हमारे लिए पूट पडती है और हमारे उच्चतर

मन्त्रिन्व ते सप्तसिधु निबलकर हमारे भौतिक अन्नमय जीवन में उफनात हुए बहने लात्र है, क्योंकि मनामय द्रव इद्र के वज्र द्वारा आवरणक अहि सबबाही एक सर्वावरोधक वृत्र क आवरणों का नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाता है। मन म नाम का सवन होता है और उसी अभिपुत सोमरस की आनन्द धारा क सहार हम उच्चतम स्वर्ग तक ले जाया जाता है।

सवन या सोमयज्ञ

अतः वैदिक निघट्ट में सवन^१ शब्द भी यज्ञ नामो म गिनाया गया है और ऋग्वेद म ६० से अधिक बार प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ सायण ने प्रायः यज्ञ ही किया है। परन्तु वेद म सवन^२ एक श्लिष्ट पद है जिसके द्वारा सोम व रस को निकालने की क्रिया क साय-साय प्रसव क्रिया भी अभिप्रेत है। सवितृ सूक्त^३ म सवन क साय ही सवीमनि, प्रसव आदि पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से सबैत मिलता है कि जिम सवन क लिए सविता ने अपने बाहुओं को उठाया है वह प्रभव है। वस्तुतः आनन्दमय अथवा हिरण्यकोण का जो प्रकाशात्मा देव है वह विज्ञानमय काश म अग्नि, इद्र तथा सोम को एक अयावृत्त इवाई होकर मनामय स लेकर अन्नमय तक अनेक देवों की सृष्टि में परिणत हो जाता है—यही सविता का सवन या प्रसव है एक देव का अनेक देवों या देवकर्मों में वितत होना स यही देवताति^४ (यज्ञ) है आनन्दमय के ज्येष्ठ ब्रह्म का ही विस्तार होने स ज्येष्ठताति^५ तथा विज्ञानमय की अद्वैत सत्ता का ही सवसृष्टि के रूप में विस्तार होने से यही यज्ञ सवताति^६ भी कहा जाता है। यही प्रजापति^७ का प्रजोत्पादन तथा भुवनस्य रेत^८ विष्णु का बृहच्छरीर^९ होना है इसीलिए प्रजापति और विष्णु की भी यज्ञनामा में गिनती हुई है।

अस्तु सोम यज्ञ की आत्मा और हवियों की भी हवि होने म, यज्ञ क सदम म उसके प्रसिद्ध तीन सवनों को उक्त श्लिष्ट अर्थ में ही ग्रहण किया जाना ठीक है। पेय सोम का रस निकालने वाले सोमस्य गोतार वाह्य यज्ञ म

१ विस्तृत विवरण क लिए देखिए दा० नरेशान द्रपाठक शृणु^१ प्रकरण में पृष्ठ का कल्पना" पृ० १६२।

२ ऋ० ६, ७१, १३।

३ ऋ० १०, १३०, १२, १०, ६०, १५ ८, ६० २१।

४ अथ० वे० १०, ८ १०, १०, १३०, २।

५ ऋ० १०, १०१ १, १० ६, ३ १ अथ० वे० ७ ८, १।

६ का० म० १२ ५ २७, १ सर्ग० मा० २०, १५, १ इत्यादि

७ ऋ० १, १६५, ३५ ३६।

८ ऋ० १ १, १ ६।

आहुति देने के लिये तो सवन करत ही होंगे, परन्तु मुख्य या तो नृपत्न (मनुष्य में निवास करने वाला) है जहाँ इन्द्र के लिये अन्नक सवन होने हैं (ऋ० १० ७६ २) जो मानुष सवन अथवा मानुषो में होने वाल भूरि सवा (७ २० ६, १ १३१ १) कहे जाते हैं। ये अनेक सवन हमारे अन्नक भावो, मचारियो, अनुभवो आदि के रूप में हमारे भीतर प्रतिक्षण होते रहते हैं, परन्तु प्रत्येक 'सवन' द्वारा अभिपुत्र सोम का बुद्धि (धी) की छलनी (पवित्र) द्वारा पवन होता भी आवश्यक है, क्योंकि इसी पवन क्रिया द्वारा पूत होता हुआ पवमान सोम विज्ञानमय में इन्द्र का पेय है जिसको पीकर ही वह धृत्र वध द्वारा उपा, सूर्य मप्तमिधु सोम आदि के विमोचन का महान् 'पौंस्य करता है—'गन्धु को अभिभूत करने वाले इस महान् पौंस्य का कारणभूत यह श्रेष्ठ सवन सोता के भीतर (सोतरि) विशेष महत्त्व' का है क्योंकि यही अपनी विज्ञानमय की इकाई को मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय को ग के उन त्रिविध मवना में परिणत करता है जिन्हें आध्यात्मिक यन्त्र के प्रातः, माध्य दिन तथा सायं सवन कहा जाता है और जिनमें से प्रत्येक के फलस्वरूप मनुष्य के भीतर (मानुषे जने) सोम अनेक सवना में (सोम पुरुषु सूयते) परिणत हो जाता है ज्येष्ठताति देवताति और सवताति बन जाता है। यो तो परावत् (कारण शरीर विज्ञान मय कोश) में प्रथम या पूर्व सवन होता है जो अर्वाविन् (मूढम शरीर—मनोमय) और शयणावत् (स्थूल शरीर—प्राणमय तथा अन्नमय शरीर) में अनेकरूप सवना में बदल जाता है परन्तु सवन की श्रेष्ठता इसी में है कि वह शयणावत् में मदितम हो जाय —

अय ते मानुषे जने सोम पुरुषु सूयते । तस्येहि प्रदेया पिव ।

अय ते शयणावति सुपोमायामधि प्रिय । आर्जोकीये मदितम ।

तमद्य राघसे महे चाद्य मदाय षड्वये । एहीमिन्द्र इवापिव ।

(ऋ० १०, ७३ २)

और इसके लिये सोम का उक्त सवन अथवा सोमयन्त्र आवश्यक है ।

पुरुषयज्ञ

वस्तुतः यन्त्र सवन्न चल रहा है परन्तु सोम के उक्त सवन द्वारा वह मृजनात्मक पुरुषयज्ञ या सोमयन्त्र बन जाता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अमृतसाम

१ तद्दु श्रेष्ठ सवनमुनात्तन त्यो न द्रतयनो अन्ति सातरि ।

विन्दयथा अभिभूति पाथ महा राय चित् तन्ने यदवत ॥

(ऋ० १०, ७३ २)

२ अय ते मानुषे जन माम पुरुषु सूयते । (ऋ० २, ६४, १०) ।

स सुतसोम हो जाता है उसके अन्नमय कोश का अन्न देवयोग्य 'राघस वन जाता है और सेन्द्रिय मनरूपी ग्यारह देव इच्छा, ज्ञान, क्रिया क भेद से तैत्तीस देव होकर इन्द्र सहित हमारे भीतर सधमादन करने लगते हैं। इन्द्र तो उनका भी राजा है जो सोम का सवन करके सोमसुत और सराघस कहे जाते हैं, और उनका भी जो असोमसुत एव अराघस' है, परंतु जो अराघस है वे ब्रह्मद्वयी पणि (८, ६४ १ २) इन्द्र के प्रति श्रद्धालु नहीं, अपितु नाना-दरूपी उपा, मूय गायो तथा आप के चोर या अवरोधक होने से बध्य हैं। अत इन्द्र को ऐस जनो का स्तोम प्रसन्न नहीं करता, जो अपने भीतर सोम का व्यापक सवन करने में समर्थ है उसी का उक्त्य सर्वाधिक स्वादिष्ठ हो जाता है उसी में महान् राघस, मद तथा बल देनेवाला 'चारु पय इन्द्र' तथा समस्त दवों को प्राप्त हाता है। उक्त सवन अथवा सोम यज्ञ के अभाव में जीवात्मा धुन शेष' की भांति उत्तम मध्यम एव अधम पाशा से जकड़ा हुआ या मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय में कूपस्थ नित' होकर रक्षा के लिये पुकारता रहता है। अत श्री अरविन्द के शब्दों में सम्पूर्ण विश्व एक मूक एव असहाय यज्ञ है जिसमें जीवात्मा अदृश्य देवा की बलि होकर वद्धपशु हो रहा है। मनुष्य के हृदय और मन में, एक विमोचनकारी धी, धीति या ब्रह्म, एक छोटमाना मनीषा का उदय होना तथा मानवजीवन को एक ऐसा बलिदान बनाना आवश्यक है जिसमें जीवात्मा यज्ञ का असहाय बलिपशु न होकर उसका स्वतंत्र स्वेच्छा से यज्ञ करनेवाला यजमान बन जाय। सही यज्ञ और सबस्रष्टा एव सबबोधक धीति द्वारा ही उसकी आंतरिक गहराइयों में से दवताप्रा के लिये एक सुन्दर मम, शची या उक्त्य का जन्म होगा जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। वह अपने पूणत्व को अमरत्व को जीत लेगा प्रकृति उसके सामने स्वयंकरा वधू बनकर आयेगी और वह उसका साक्षी ऋषि बन जायेगा, एक राजा बनकर उस पर शासन करेगा। देवों को प्रसन्न एव आकर्षित करने वाली गिरा' देवों की तुष्टि एव वृद्धि करने वाली 'धीति', देवा की प्राप्ति एव आत्माभिव्यक्ति कराने वाली वाक स मनुष्य अपने भीतर देवा का वासस्थान दे सकता है अपने अस्तित्व के अष्टचक्रा नवद्वारा पूरी में आराध्य देव की सजीव मूर्ति स्थापित कर सकता है अपने अन्दर देवा को जन्म दे सकता है तथा अपने भीतर

१ त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्व राजा नानानाम् (८, ६४, २) ।

२ ८, ६४, १२ ।

३ ऋ० १, २४, १२ १५, १, २५, २१ ।

४ ऋ० १ १०५, १७ ।

अपने आत्मा के निवास के लिए बृहन् और ज्योतिमय लोकों की रचना कर सकता है—ऋतवाक द्वारा सब्रह्मण्य सूर्य या मविता सजन करता है, साम के द्वारा ब्रह्मण्यपति लोकी को प्रेरित करता है और त्वष्टा उन्हें बनाता है सहजचतन हृदय में धोतमाना मनीषा को पाकर तथा उसे अपने मन में रूप देकर मानव विचारक, यह मलय जीव अपने भीतर ही उन सभी रूपों की सृष्टि कर सकता है सभी भवस्याम्ना और परिस्थितियों को जन्म दे सकता है जिन्हें वह चाहता है अपने अस्तित्व की समस्त संपत्ति, समस्त ज्योति, शक्ति और आनन्द को अपने लिये प्राप्त कर लेता है। वह अपने संपूर्ण अस्तित्व का निर्माण करता है और अपने देवा को आमुरी सेना के बिना करने में सहायता देता है, जिसके फलस्वरूप उसकी वे सभी आध्यात्मिक दानु सेनायें नष्ट हो जाती हैं, जिन्होंने उनका अतजगन् को विभक्त छिन भिन एव विपण्ण बना रखा था।”

देवपान चमस

ऐसी भवस्था में हमारा अस्तित्व मानुष में विश्वमानुष होकर एक स्पृहणीय वसु (८ १५, ४२) का अधिकारी बन जाता है हमारे भीतर, इन्द्र (८ २१) इसी वसु के रस (वसो सुतम्) को भरपेट (सुपूणमुदर) पीकर सोमपा सुतपा विश्वायु (८ २४) बन जाता है, अग्नि विश्वायु होकर प्रिय पदों (१ ६७, ३) की रक्षा करने लगता है और सोम विश्वायु रयि (६, ४, १०) से आता है और हम 'वस्यस' होकर (६, ४ ६) शाश्वत सूर्य दशन (ज्योक पश्यम सूर्यम) के योग्य बन जाते हैं। तब हमारे 'विज्ञानमय की सच्चिदानन्द' काई के सत् चित् और आनन्द अग्नि इन्द्र एव सोम स प्रमणा विभु, ऋभु और वाज उत्पन्न होकर हमारे मानुष शरीर को एक ऐसा देवपान चमस बना देते हैं जो सोम्य देवा का प्रिय होता है और जिसमें अमृत देव सघमादन करने लगते हैं (१० १६, ८) तथा चार भागों में विभक्त (४ ३५, ४) यह चमस अपने नेष्ट्र, पोत्र होत्र एव तुरीय पात्रो (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति एव तुरीय भवस्याम्ना) में अद्वैत सत्ता की रमणीयता प्राप्त कर पाता है और हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को उस वेन यन की ज्योति में परिणत कर देता है जहाँ हमारा विश्व एकत्रीड (१० १२३ १) ही जाता है (यत्र विश्व भवत्यकनीडम्)।

१ २ १, २, १० ११, १०।

२ १, ७६ ४ २ १, २ १०, ६१, १०।

३ १, ७६ ४, २, १ २ १०, २१, १०।

४ २, ७, ४।

कवि और काव्य

पिछले अध्याय में प्रस्तुत रस मीमांसा के रस की अभिव्यक्ति कवि के काव्य में होती है क्योंकि ऋग्वेद के अनुसार काव्य में रमणीयता प्रियता मधुरता मादकता तथा चारुता मुख्य होती है और इन सबका तथा स्वयं कवि-कर्म का स्रोत सोम स्वयं 'दक्ष कवि (१, ६१, १४) कहलाता है। यह दक्ष कवि सोम उसी मनुष्य की सेवा करता है, जो उसके 'सख्य' में रमणीय होना होता है। अतः एक दृष्टि से सोम ही सभी काव्यों का स्रष्टा (६, ६१, १५, ६४, ३) अथवा पावनकर्ता (६, ६२, २५, ६६, १, १०७, २३) है और जो पूज्यमान (पुनान) गोम मुमेधा, गातुविद, विश्वदेव होकर अपने नित्य स्थान (नित्य सद) को प्राप्त होता है वही समस्त काव्यों में रमणीय (विश्वेषु काव्येषु रता) होता है। सोम कवि काव्यों को अपने 'नम्ण से श्रोतश्रोत करता है (६७, ४), सभी काव्यों का अभिसृजन (६२३, १) मधुरमद की धारा द्वारा करता है, तथा समस्त प्रिय काव्या (प्रियाणि काव्या विश्वा) को प्रत्यक्ष करता हुआ (अभिचक्षण) गतिशील होता (६ ५७ २) है। सोम अपने नित्य स्थान में एक अद्वैत, यक्ष, कवि है और उसका काव्य नित्य प्रत्यक्ष या पूज्य कहलाता है परंतु दूसरे रूप में वह अनेक, यत्नरूप तथा अनित्य स्थान में नाना काव्यों की सृष्टि करने वाला तथा स्वयं इस नानारूपपरमक यत्न की धारणा होकर इस अवस्था में भी 'प्रत्यक्ष काव्य' की रक्षा करता है। अनकविधा अभिव्यक्ति के प्रसंग में वही नित्य सोम उगना भी कहलाता है, अतः वह काव्य की अभिव्यक्ति उगना'

* य सोम सख्ये तव शरणदेव मत्स्य । त दक्ष मन्वत कवि (ऋ० १, ६१, १४) ।

० आमा यक्षस्य रक्षा मुधाण पवन सुत । प्रत्यक्ष निपाति काव्यम् (६, ६८, ८) ।

३ प्र का-यमुरानेव मुवाण (६, ६७ ७) ।

की भाँति करता है अथवा काव्य के द्वारा वह स्वयं उदना^१, ऋषि, विप्र, धीर धाम्नि बनता है। जो सोम कृत्नु अगृभोत, विप्रवजित तथा उदिभद है वही काव्य के द्वारा ऋषि, विप्र आदि होता (८७६१) है। सोम एक माजनयोग्य कवि है जिसका बुद्धियों द्वारा भाज्य (६, ६३२०) होता है, वह एक अगु एक अक्षित कवि है जिसका दोहन मनीषी तथा शियाशील (मनीषिण अपम) कवि करते हैं (६७२,६)।

अग्नि और काव्य

सोम के अतिरिक्त अग्नि का भी ऋग्वेद में युवा कवि (८४४,२६, ३, २० १) कवि गृहपति युवा (७,१४ ०) तथा मत्स्य ऋषियों में स्थापित अमृत प्रचेना कवि^२ कहा गया है और सोम की यदि प्रत्येक काव्य की रक्षा करनेवाला बताया गया है तो अग्नि अपने तनु को प्रत्येक मांस^३ द्वारा अलवृत करनेवाला तथा विप्र द्वारा वृद्धि करनेवाला है क्योंकि अग्नि और सोम दोनों ही विज्ञान मय की उन सच्चिदानन्द अद्वैत इकाई में एक मांस हैं जिसे प्रता पूव उत्तम आदि कहा जाता है और जो मनोमय में मध्यम तथा अन्नमय में अधम की मना प्राप्त करके यज्ञ अक्षर आदि कहनाता है। अतः सोम की भाँति अग्नि कवि का संघ भी अक्षर या यज्ञ से है—वह कवि अक्षर के हेतु (अक्षराय) चारों ओर अक्षर के समान ले जाया जाता (३२७) है, अक्षर का प्रणता, युवा कवि अग्नि सधस्थ (अतरिभ्य मनामय) में निमयित और सुधित (३२३१) तथा अक्षर में सत्यधर्मा कवि (११२६) अथवा कविया द्वारा कवि होकर विप्र मनुम की हवियों द्वारा देवयजन (१७११०) करावाना कहा गया है। अतः अग्नि अपने एक रूप में पूव या मांस कवि है जो विज्ञानमय के विवस्वान् रूप (१११३) से उत्पन्न होता है और पूवमा निविनाकव्यता से युक्त आयु (१,६६२) होकर अपनी उक्त कव्यता द्वारा मनोमय (मनु) की उन प्रजापति को जन्म देता है जो अयत्न भतिया और उक्थो के रूप में गूढ़ वचनों (निष्ठा वचामि) तथा निवचन काव्या को व्यक्त करने में अग्नि कवि का मायम बनती (४३,१६) है तथा जिसके कारण अग्नि समस्त काव्यों का नाता (३११७१८) तथा धारणकर्ता (१६६१) कहनाता है।

१ ऋषिऋषि युगला जनानामृगुशीर्ष उताता काव्यन (६,८७,३) ऋषिऋषि कानयेन (८,७६१)।

२ अथ कविरकविषु प्रचेना मनस्विजिरगृही निशामि (७,४,४)।

३ अग्नि प्रनेन ममता शुभानन्व स्वान् । कविऋषेय काव्यन । (८४४,१२)

अग्नि के कवि हाने और काव्य से सबद्ध होन का सम्भवतः अभिप्राय यही है कि कवि और काव्य के साथ अग्नि-रूप सोमत्व के अतिरिक्त अग्नि का कृत्व भी अपरिहाय है। इसीलिए ऊपर सोम्यरस के साथ ही कृत्यरस का भी उल्लेख किया गया है। इसीलिए अग्नि के कवित्व का मूलकारण सोम का बल (सोमस्य तवस) है जिसके प्रताप से ही (३,१,१५) कवियों के विदग्ध सम्भव हाते हैं, और अग्नि अपने शुक्र अणु द्वारा रजस (त्रियातत्त्व) का विस्तार तथा कविरूपी छलनियो (कविभिः पवित्र) के माध्यम से ऋतु को शोधन करता है। अतः अग्नि मधुहय कवि (५५, २) है और काव्य द्वारा जहाँ अग्नि की वृद्धि होती है वहाँ मधुघत की धाराएँ (३,१,८) गिरती हैं तथा बलपुत्र (सूनो सहम) शुक्र वपुर्गो को धारण करता हुआ विविध रूपों में चमक उठता है।

इन्द्र कवि और काव्य

सोम और अग्नि के अतिरिक्त इन्द्र को भी कवि (१,११४) कहा गया है, और स्वयं इन्द्र के मुख से भी कहाया गया है कि वही कवि उदना (४,२६,१) आदि हो जाता है परन्तु इसका अभिप्राय सम्भवतः यही है कि वह कवि के समान अर्तहित (निष्प) को सिद्ध करता है (४,१६३) और उदना इन्द्र का बल से ही अपने बल का निर्माण (तक्षते उदना सहसा सह ६२०,१०) करता है। अतएव वह कवियों के साथ कवि हाकर दृढ पुरो को ध्वस्त करता है। (६,३२३) य कवि वही हैं जिनके 'सूय' द्वारा इन्द्र धावापृथिवी (सूक्ष्म और स्थूल गरीर) को प्रकाशित करके अद्रि (धावरक अज्ञान) को तोड़कर गायो (ज्ञानप्रकाश की रश्मियों) को बंधन मुक्त अथवा जीवन चेतना के रूप का प्रवाहित करता है (६,३२२)। यह धावापृथिवी को प्रकाशित करना एव गायो का मुक्त करना ही सम्भवतः इन्द्र का वह मज्ज काव्य (मज्जना काव्येन) है जिसका द्वारा धावापृथिवी का सुनिर्माण (६,३०,६) किया गया। सम्भवतः पुरों का भेदक, समस्त कम का धारक तथा अमित भोज से युक्त होन से ही 'युवा कवि इन्द्र (१,११४) का रहस्य निहित है क्योंकि समस्त पुरा के भेदन का फलस्वरूप ही इन्द्र सोम्य मधु (मधुन सोम्यस्य) का राजा होता है (६,२०,३) तथा किसी 'दग्ध अग्नि कवि के निमित्त सक्डो आधुर्गो द्वारा अन्नमय (पित्त) की अमुर (शुष्ण) मायाया का विनाश (६,२०,४) करता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि की भाँति इन्द्र का कवि हान से भी सोम ही कारण है और इन्द्र भी अग्नि के समान अन्य कवियों के कवित्व द्वारा कवि है क्योंकि वस्तुतः इन्द्र में (इन्द्रे) तो मस्त देव ही कवि हान का

गौरव प्राप्त करने हैं और इस दिग्गा में अग्नि की भांति इन्द्र कवि का सबंध यज्ञ (अकसाति) से विनोद प्रतीत होना है ।

कवि और कवय

इस प्रकार सोम, अग्नि और इन्द्र में से प्रत्येक कवि है और कवियों में कवितम है क्योंकि यदि सोम समस्त वाक्या और कवियों का एक मात्र प्रेरक स्रोत है, तो अग्नि उनका वर्ता, जाता और धर्ता कहा गया है तथा इन्द्र उनका प्रकाशक अनावरणक अथवा मोचक माना गया है । अतः सोम अग्नि और इन्द्र में से प्रत्येक कविप्रभु (३, १४, ७ ८, ४४, ७ ५, ११४, ६, १६, २३, २६१ ६, ४५५ ६, ६२, १३, ३, २४, ३, २७ १२, ८ ४४, ७, ३, १४७) होने से ही कवि कहलाने का अधिकारी प्रतीत होता है क्योंकि अथवा कवि ता अनेक है—मरुता की 'सूपस्वच कवय' (७, ५६ ११), कवयो युवान (५, ५८, ८) तथा सत्यधृत कवयो युवान (५, ५७ ८) कहा गया है अगिरस तथा ऋभु भी कवय हैं (ऋ० १०, ५३, १०) और वस्तुतः सभी देव ही कवय (१०, ८८ १३ ३ ५४, १७) बहे गये हैं । इन देव कवियों में से कुछ तो वमण्यता (अप) के लिये प्रसिद्ध हैं और प्रायः 'अपस' कहलाते हैं और कुछ प्रवाणन या मनन आदि के लिये प्रसिद्ध हैं तथा मनीषी आदि कहलाते हैं—प्रथम कोटि में ऋभु आते हैं जो एक देवपान अपस को चतुर्धा करने आदि के लिये प्रसिद्ध हैं और दूसरी कोटि में मरुत और अगिरस हैं जो उषा, सूर्य, आप आदि के आवरणक वृत्रादि के वध द्वारा इन्द्र के प्रकाशन वायु में सहायक होते हैं ऋभु के निर्माणवायु का स्रोत है अग्नि अथवा सत् (१०, ५३, १०) और मरुत आदि संपूर्ण देव तो इन्द्र में ही होते (इन्द्रे भवथ ऋ० ३ ५४, १७) हैं । परन्तु ये दोनों प्रकार के कवि—अपस मनीषिण सोम रूपी अक्षित कवि को, अग्नि को अक्षत की मोनि में और पुनः अक्षत के सन्त में दुहते हुए (६ ७२ ६) बताये गये हैं । सोम की सहस्रधार विस्तृत छलनी में मनीषी इन्द्र कवि (कवयो मनीषिण) वाक का बोधन करते (पुनरिति) हैं, अथवा वे उस सोम की सहस्र धाराओं

१ महत्त्वं क कवयश्चात् युद्ध देवा भवथ विरथ इन्द्रे (ऋ० वे० ३ ५४ १७) ।

२ ऋ० वे० १, १७४, ७ ६, २६ ३ ।

३ ५२ ३ ७, ६, १, ३, १४, ३, ५, ४२, ३ ।

४ देविये ऊपर अनुच्छेद ० ।

५ देविये ऊपर अनुच्छेद ३ ।

६ ऋ० २ ७३ ७ ।

का माजन (६६७,२६) करते हैं जो देवजाता हैं। इसस प्रतीत होना है कि मूल कवि तो विद्यानमय की वह अद्भुत सच्चिदानन्द इकाई है जिसस नमः अग्नि इद्र तथा सोम के ऋतु को लेकर मनोमय की क्रिया ज्ञान एव इच्छा शक्तियों के नानारूप अनेक कवियों या देवों में परिणत हो जाते हैं। पहले रूप में वह प्रचेतस कवि यम-साधन और ध्यातय (१,४४,११) अद्भ्य, अमृत तथा यम का प्रथम केतु (३२६५) है, परंतु दूसरे रूप में वह अनेक होकर मर्त्यों में द्विविध (द्विता) होकर (८,८४२), अप्स और मनीषिण कवय में विभक्त हो जाता है। इन दोनों प्रकार के कवियों का सम्बन्ध भ्रमरा उस कृत्व्य रस और इद्ररस से जोड़ा जा सकता है जो पिछले अध्याय में क्रियाशक्ति के प्रतीक अग्नि एव ज्ञानशक्ति के प्रतीक इद्र से संबंधित है।

काव्यम्

उक्त कवि और कवियों के विवरण को देखकर यह प्रश्न होना स्वामाविक है कि ऋग्वेद में काव्य क्या है और उसका संबंध इन कवियों से है या नहीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद में भी काव्य एक 'वच', एक उक्थ (५,३६,५) है, परंतु उक्त विद्यानमय की सच्चिदानन्द अद्भुत इकाई में वह या तो 'प्रल काव्यम्' है जिसकी आनन्दमय होने से यनात्मा सोम निनेपरूपेण रक्षा करता है (६६८), या वह प्रल मम' है जिसके द्वारा अग्नि कवि अपने तनु (तव स्वा) को अलकृत (८४४,१२) करता है अथवा वह इद्र की 'प्रल ज्योति' है जो भूत और भव्य दोनों (८५५२) का स्रोत है। परंतु यह त्रिविध वर्णन उस इकाई की अद्भुतता को नष्ट नहीं करता, क्योंकि वस्तुतः वही तो देवों का परम जनित्र है जिसमें दोनों ज्योतियाँ (इद्राग्नी) तृतीय (सोम) ज्योति के द्वारा एक ही 'चारु या प्रिय' इकाई में समाविष्ट हो जाते हैं। (८,५६१)। यह भ्रमर काव्य है, इसी को लक्ष्य करके कहा गया है कि पश्य देवस्य काव्य यमममार न जीयति, परंतु इसके विपरीत मनोमय में आकर उसी भ्रमर कवि को, युवा होते हुए भी बुढ़ापा घेरने लगता है, जिसके फलस्वरूप देव का काव्य मरने जीने वाला (८५५५) होता है। अतएव विद्यानमय के काव्य को 'भ्रमरकव्य' तथा मनोमय के काव्य को पुनर्जायमान काव्य कहा जा सकता है। पहला पूव्य है तो दूसरा नव्य पहला अमृत है, तो दूसरा मर्त्य'।

१ देवस्य पर्य काव्य महित्वाऽप्या ममार स ह्य समान (८,५५,५)।

२ ६,७६ ४,२,२१,४।

३ १,६२,१०, ३५,७।

पहले में अग्नि, इंद्र और सोम अन्न सत्, चित्, अन्न-रूप में प्रथमानि धर्माणि' आधारभूत तत्त्व कहलाते हैं परन्तु मनामय से लेकर अन्नमय तक यही प्रथमानि धर्माणि अन्नरूप होकर इंद्रयुज्यविष्णु' द्वारा अग्नि तीनों पदों में धारण किए जाते हैं अग्नि' द्वारा पुष्ट किए जाते हैं तथा सोम' द्वारा रससंपृक्त किए जाते हैं। आगमों की भाषा में यही ज्ञान क्रिया और इच्छा गतियाँ हैं जो मनुक्त रूप में हमारे विज्ञानमय आत्मा की पराङ्गति अथवा वैदिक इंद्र का 'गवी' के रूप में विद्यमान रहती हैं और मनोमय से लेकर अन्नमय ब्रह्म तक अनेक विचारों प्रत्ययों, वृत्तियों बलों भावों तथा अनुभावों में व्यक्त होकर स्थापत्य तन्मय, आलेख्य संगीत नाट्य और साहित्य आदि जलित मानवीय अभिव्यक्तियों के रूप में प्रकट होती हैं। अतः मनोमय से लेकर अन्नमय तक के नय काय में पूर्य काय की अद्वैत एव अन्नर सत्ता के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—एक अन्नमय रूप है जो मन प्राण, वाक् चक्षु श्रोत्र आदि की चतुर्गति में निहित है और दूसरा मत्स्य रूप है जो सोम, त्वक् मांस, अस्थि तथा मज्जा आदि में मूर्तिमान है—

“तदतो वासस्य पञ्च मर्त्यास्तत्र आसन् सोम त्वक् मांसम् अस्थि मज्जाघता अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रम् ।

स्पष्टतः ये दोनों रूप एक दूसरे के विपरीत हैं। एक अमृत अमृत तथा अनिरुक्त है तो दूसरा मत्स्य मृत एव निरुक्त एक अखियारा है तो दूसरा अघा एक लगडा है तो दूसरा परो वाला, एक पुरुष है तो दूसरा स्त्री। इन दोनों के इस पारस्परिक विपर्यय को दोनों के परस्पर विरोधी नाम भी सूचित करते हैं। अतः पहल का नाम 'कवि' है जिसके मूल में कव घातु है जबकि दूसरे का नाम वाक् है जिसकी निष्पत्ति न कवल वच' घातु से सम्भव है अपितु वक्वा, वक्वरी, वाक् आदि वैदिक शब्दों की वक् घातु से भी हो सकती है। एक को पश्य' कहते हैं क्योंकि उसके निष्क्रिय ब्रह्म को पण (देखना) घातु से व्यक्त किया जाता है और दूसरे को 'गव्द' भी कहते हैं, क्योंकि उसकी निष्पत्ति न केवल शब्द शक्ति-क्रियायाम से अपितु 'पदा' के विलीन रूप आक्रीशे से भी हो सकती है।

१ १,१६५ १०,१०,१०,१६ १ १६५,५३ ।

२ १ ००,१६ । ३ ३३ १ ५,०६,६ ४ ६६० १२ ।

५ अ० १०,१५६ ।

६ न पश्य मृत्यु पश्यति न रोम नोत्त दुरज्ज
सर्व पश्य पश्यति सर्वभान्ति सर्वश (द्या उ ७ ०५ १)

इन दोनों स्वरूपों के विषयय म पाथक्य अथवा विरोध देखना भूल होगी क्योंकि व एक ही आत्मा क दो पक्ष हैं जिनम से एक दूसरे का पूरक है—एक धनात्मा है तो दूसरा ऋणात्मा, एक शक्तिमान् है तो दूसरा शक्ति। दोनों म अविना भाव सम्बन्ध है, एक दूसरे क बिना नहीं रह सकना —

शक्तिश्च शक्तिमद्रवपाद ध्यतिरेक न बाञ्छति ।

तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ॥^१

परन्तु यह रूप द्वन्द्व स्थूल जगत् म ही है, और यहा भी ये दोनों ऐसे घुले मिले हुए हैं कि एक ही दिखाई पडना है अतः लोग शक्ति को ही शक्तिमान्, वाक को ही कवि अथवा स्त्री को ही पुरुष समझ बैठत हैं, उनके यथाथ विवेचन म तो जानी ही समझ हो सकता है —

स्त्रिय सतीस्ता उ मे पुस आहु ।

पश्यदक्षणात् चेतदघा ।^२

वास्तव म, जसा कि साक्ष्य ग्रंथा म कहा गया है, स्त्री (प्रकृति) पुरुष क चारों ओर ऐसा जाल बिछा देती है कि वह अपन का पूणतया भूल जाता है और प्रकृति को ही आत्मरूप समझने लगता है। ऋग्वेद मे इसी बात को बतलात हुए कहा गया है कि इस प्रकार के आतिपूण पान को रखने वाला पुत्र कवि है और इसको सविशेष जानन वाला कवि तो पिता का भी पिता है —

कविय पुन स ईमाचिवेत ।

यस्ता विजानात् स पितुपितासता ॥ (ऋ० वे० १ १६४ १६)

यह 'पिता का भी पिता आत्मा का वही गुड, बुद्ध और चित् स्वरूप है जिसमे उक्त सारा द्वन्द्व द्रत अथवा अनक्तव विलीन हो जाता है—न वहाँ शक्ति (वाक) रहती है न उसका वह पुत्र (कवि) वे न जान कहा समा जात है और न मालूम कहाँ से वह उत्पन्न हो जाता है —

अथ परेण पर ऐनाधरेण पदा अत्सविभ्रतीगोरुदस्यात्

सा कद्रोचो क स्वियध परागात् क्व स्वित् सूते नहि सूये अत ।

यहाँ यह कहन की आवश्यकता नहीं कि यह पिता कवि वही अद्रत तथा अमृत आत्मा अथवा ब्रह्म है, जिसका उत्सख प्रारम्भ मे पूष या अमृत कवि के रूप म तथा श्रीमदभगवद्गीता क 'कवि पुराणम्' आदि म मिलता है; इसी कवि का मूलरूप दूसरा कवि है जो 'वाक' के साथ 'यावहारिक जगत् म द्रतसत्ता क

१ अभिनव गुप्त परा वि ११ ।

२ ऋ० वे० १ १६४ १६ ।

रूप में रहता है और जिसे ऊपर नव्य कवि भी कहा गया है। पहला अव्यक्त है तो दूसरा व्यक्त दूसरा पहले का संप्रसारण मात्र है। अतः पहले 'कवि की व्युत्पत्ति कु' धातु से मानी जाती है और दूसरे की कु व' संप्रसारण कव धातु से। दोनों कवियों व स्वरूपा में जिस प्रकार भिन्नता है उसी प्रकार दोनों की धातुओं व प्रथों में भी—'कु' का प्रयोग 'कव' के लिए होता है जिसका अर्थ इस प्रकार है कि प्रथम ध्वनि न हाकर शब्दब्रह्म अथवा शब्दविस्फोट आदि की कल्पना में उपलब्ध असूक्त अभिव्यक्ति है कव का प्रयोग वण अर्थ में होता है जिससे रग रूप वणन आदि की मूल अभिव्यक्ति होती है। प्रथम दूसरे से पृथक् नहीं है परन्तु वह मूल तथा असूक्त है, जबकि दूसरा उसका मूल संप्रसारण। पहला कवि असूक्त तथा निष्कल है जब कि दूसरा द्रव्य वाक (शक्ति) से सम्युक्त। 'यावहारिक जगत् में दूसरे का अस्तित्व ध्रुव सत्य है परन्तु पारमाधिक दृष्टि से पहला ही एक मात्र मत है।

वाक्य का वाक्यत्व

हमारे स्थूल भौतिक जगत् में रसस्वरूप ब्रह्म अपने शुद्ध तथा आत्यन्तिक रूप में नहीं रह सकता यहाँ वह धन तथा ऋण सरस तथा अस सुख तथा दुःख दानो ही पक्षा में मिलता है। हमारे व्यष्टि तथा समष्टि व जीवन में नाना तत्त्व विद्यमान हैं चाहे हम उन्हें ब्रह्म माया या पुरुष प्रकृति कहे अथवा शक्तिमान शक्ति या कवि वाक्य वह यह बात निर्विवाद है कि यहाँ व्यावहारिक जगत् में इन जाड़ में से दूसरा तत्त्व ही प्रधान रहता है और 'स्त्रिय सतीस्ता उ में पूस पाहु' का वेदवाक्य चरिताय करता है। अतः शरीरधारियों की जो भी अभिव्यक्ति होगी वह साधारणतया शक्तितत्त्व या वाक्य रूप में ही होगी। वाक्य रूप अभिव्यक्ति को वाक्य कहा जायेगा और इसमें—केवल शुद्ध वाक्य में—रस नहीं होगा। परन्तु शक्ति तथा शक्तिमान अथवा कवि तथा वाक्य का अविनाभाव सम्बन्ध होने से कोई भी अभिव्यक्ति कोरी वाक्य रूप नहीं हो सकती उसके भीतर प्रकृत रूप में कवि तो रहेगा ही। अतः 'वाक्य' यदि 'अभिव्यक्ति को वाक्य कहा जा सकता है, क्योंकि कवि स्वयं बिना वाक्य मूल या 'यक्त हो ही नहीं सकता। 'कवि' को व्यक्त करने का अभिप्राय

१. देखिये उल्लेख ४ १३८

२. पा० धा० पा० १ ६८६ २ ३३ ६, १०८

३. पा० धा० पा० १ ४०५, देखिये आटे से शब्दकोष

रम के उरम को खोल देना, अतः 'वाक्य' में जितनी पुनः रस की आती जायगी उतना ही वह काव्य कहलाने का अधिकारी होता जायगा। उसी को हम प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वाक्य' जितना ही अधिक कायरूप हागा, अपन में कवि को प्रत्यक्ष करेगा उतना ही वह रसात्मक हाता जायगा। इनीलिण साहित्यदपणकार की परम्परा में रसात्मक वाक्य का ही वाक्य माना जाना है।

काव्य में इस स्वरूप के अतगत सभी प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं। वास्तु, मूर्ति तथा चित्र जसी स्थूल कलाओं से लेकर मगीत तथा कविता जसी सभी कलाएँ रसात्मक अभिव्यक्तियाँ होने से 'काव्य' है। यही कारण है कि प्रसिद्ध कलाममत्र श्री रायकृष्णदास जी ने साहित्यदपण तथा 'रम गगाधर' की काव्य परिभाषाओं को कला मात्र के लिए उपयुक्त पाया है। उनका कहना है कि— वाक्य की जो परिभाषा अपन यहाँ है उसे यदि व्यापक रूप में लगाइय, तो वह वाक्य की परिभाषा नहीं रह जाती। चित्र, मूर्ति, कविता, मगीत आदि कला मात्र की परिभाषा बनाने के लिए, एक दशीय रूप देकर वाक्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। अर्थात् वाक्य की परिभाषा की पूण व्याप्ति तभी होती है, जब हम 'वाक्यरसात्मक काव्य के स्थान पर कृतिरसात्मक कला' कहे या 'रमणीयाथ प्रतिपादक शब्द काव्य में बदल रमणीयाथप्रतिपादिका कृति कला कह।' वस्तुतः हमने वाक्य का जो रूप ऊपर निर्धारित किया है, उसको ध्यान में रखने पर उक्त दोनों परिभाषाओं में बिना कोई शान्दिक हेर-फेर किए ही 'रसात्मक अथवा रमणीयाथप्रतिपादक वाक्य में अतगत सभी कलाओं को लिया जा सकता है। मरने अपना अनुमान तो यह है कि उक्त दोनों परिभाषाएँ सम्भवतः उस काल से बना आ रही थी जिस समय 'वाक्य' तथा 'वाक्य' अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होते थे और साहित्यदपणकार तथा रमगगाधर ने केवल उनका पुनःद्वार करके उह कविता में लागू किया। जसा इन ग्रंथों में 'कविता' के लिए किया गया वसा ही सम्भवतः अर्थ कलाओं के लिए तत्तत्सम्बन्धी ग्रंथों में भी किया जाता हागा। इसका सबम अछा प्रमाण विष्णु धर्मोत्तरपुराण नामक ग्रंथ है जहाँ एक से अधिक कलाओं में कविता के समान ही रसात्मकता का उल्लेख किया गया है यहाँ पर विभिन्न कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले आकस्मिक उद्धरणों का 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में लिया जा रहा है—

१ नाट्य—शृ गारहास्य कृष्णा धीर रौद्र भयानक ।

धीमत्साद्भूत शांताएया नय नाट्यरसा स्मृता ॥

२ गान—नय रसा । तत्र हास्य शृ गारयोमध्यम पञ्चमौ । धीररौद्रा-

द्रुतेषु षडजपधमो । बदले निपादगापारी । धीभत्स भयानकयोर्वित्तम शाते
मध्यमम् । तथा लया । हास्य शृ गारयोमप्यमा । धीभत्सभयानकयोर्विलम्बितम् ।
वीररौद्रावभुतेषुद्रुत्तम ।

३ नृत—रसेन भावेन समवित च तालनुगकाव्यरसानुग च गीतानुग
नक्तम्पुगातिषय भुवप्रद घमविवधमञ्च ।

४ चित्र—शृ गार हास्यकृष्णाधोर रौद्रभयानका
धीभत्सावभुतगातरथ्या नव चित्र रसा स्मृता ।

५ मूर्ति—यथा चित्र तपवीक्त छातपुवनराधिप ।
मुषणरूपताघ्रादि तच्च सोहेयुकारयेत् ।

उपयुक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परम्परा के अनु
गार, नाट्य आदि कलाओं में भी रस का वही स्थान था जो कविता में । इन
कलाओं को रसात्मक वाक्य' कहना उतना ही उपयुक्त है, जितना कविता को ।
अतः इन सभी अभिव्यक्तियों को काव्य रस रूप कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति
से युक्त 'वाक्य' कहना अनुचित नहीं है ।

काव्य-रस

अब प्रश्न होता है कि ऊपर रसों के स कहकर जिस रस का उल्लेख
किया गया है उसमें तथा काव्य रस में क्या कोई अंतर नहीं । वास्तव में इस
प्रश्न का उत्तर काव्य के उक्त स्वरूप में ही निहित है । काव्य तो स्वभावतः
अभिव्यक्ति है जबकि वह रस-स्वरूप ब्रह्म (आत्मा) यथायत अव्यक्त एव कृत्स्न
है, काव्य चक्षु श्रोत्र, मन आदि से भोग्य है, जबकि वह इन सब परे है और
उसके विषय में कहा गया है कि—

यतो वाचि विनिवृत्तं अप्राप्य मनसा सह ।

अन द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनोन ॥ (त० उ० २ ६)

शक्तिमान् की अभिव्यक्ति शक्ति द्वारा होती है आत्मा की अभिव्यक्ति
गरीर द्वारा होती है, कवि वाक्य' द्वारा ही व्यक्त हो सकता है क्योंकि बाह्य
अभिव्यक्ति मात्र स्थूल जगत् की वस्तु है । अतः काव्य से वाक्यत्व, गरीरत्व
अथवा स्थूलत्व का पूर्णभाव कदापि नहीं हो सकता क्योंकि उसके ही
व्यावहारिक जगत् का द्वैतभाव ही चना जायेगा । अतः वाक्याश्रित काव्य का
रस शुद्ध ब्रह्मानन्द रस नहीं हो सकता । इसी से काव्य रस को ब्रह्मानन्द
कहकर ब्रह्मानन्द महोत्तर कहा गया है ।

ब्रह्मानन्द से काव्य रस भिन्न होते हुए भी तत्त्वतः एक ही है, क्योंकि काव्य

रस यथायत अयक्त रस का ही व्यक्त रूप है। अतः इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अव्यक्त की व्यक्तीकरण प्रणाली समझना परमावश्यक है।

अव्यक्त जिस स्थूल यत्र द्वारा व्यक्त होता है, उसकी रचना में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है। इस यत्र को हम व्यष्टि रूप में शरीर कहते हैं। इसका स्थूलतम रूप तो 'अनमय कोश' है जिसमें पिण्डात्मक तथा रसात्मक पदार्थ हैं। इस कोश के कण-कण में भिदा हुआ 'प्राणमय कोश' है जिसमें वायव्य एव वचुन् तत्त्व हैं। 'प्राणमय' के अणु अणु में 'मनोमय कोश' व्याप्त है जो हमारी इच्छा पान तथा क्रिया शक्तियों को संचालित करता है तथा उनको नानारूप प्रदान करता है। मनोमय के मूल में विज्ञानमय-कोश है जहाँ मनोमय की सारी नानात्वमयी अनुभूतियाँ एकमात्र अनुभूति का रूप धारण कर लेती हैं। विज्ञानमय का सूक्ष्मतम रूप तथा स्रोत आनन्दमय कोश है, जिसमें पूरा अद्वैत आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। यही यथाय 'रस' है। यहाँ पर अहता तक नहीं रहती, अतः अभिव्यक्ति की बात ही कैसे हो सकती है। वह तो सबया अव्यक्त रस है, यत्तीकरण के साथ ही अहकार प्रारम्भ हो जाता है, जो पूरा अद्वैत नहीं तो 'अयदिव' तो अवश्य है।

व्यक्तीकरण का प्रारम्भ 'विज्ञानमय' कोश में होता है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है, जो मनोमय तथा प्राणमय में उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अतः अनमयकोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है— गन्ध, स्पर्श रूप रस गन्ध के अतगत 'प्रिय' (सुन्दर) में परिणत होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो जाती है। अनमय तथा प्राणमय कोशों को 'स्थूल शरीर' भी कहते हैं और मनोमय को सूक्ष्मशरीर तथा विज्ञानमय को कारण शरीर। इन्हीं तीनों शरीरों के द्वारा वह अयक्त रस व्यक्त होता है, यही तीन स्तोम' हैं जिनके द्वारा वह परिवृद्ध होता हुआ बतलाया गया है —

य स्तोमेभिर्वावृधे पूर्वैर्भिर्योम ध्यमेभिरुत नूतनेभिः ।

(ऋ० वे० ३ ३२ १३)

इस अभिव्यक्ति का कारण है 'अव्यक्त की शक्ति जिसको वाक माया आदि नामा से पुकारा जाता है और जिसके प्रादुर्भूत होत ही ब्रह्म माया घनात्मा ऋणात्मा अथवा कवि वाक' का 'द्वैत चल पडता है इसके फलस्वरूप अष्टवशा नवद्वारा अयो-या के जिस स्वयम्भू यक्ष (आत्मा) का उल्लेख हो चुका है वह शरीर त्रय के उपाधि भेद से कवि, मनीषी तथा परिभू रूप धारण

रगता हुआ काग म यथोचित घर्षो (विषयो) की स्थापना करता है —
 कविमनोषी परिभ स्वयभूर्पायातम्यतोऽर्यान् ।

व्यदधाच्छाश्वतोम्य समाम्य । (५० वे० ४० =)

एकत्व—अनेकत्व—ब्रह्म—विविवागात्मक द्वैत व इस व्यवनीकरण म एक ध्यान देने की बात यह है कि कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्थूल होगी उम पर वाक (माया) का आवरण उतना ही गहरा होगा और रमस्वरूप आत्मा (कवि) उतना ही परोक्ष रहेगा। इस व विपरीत उमकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म होगी वाक का आवरण उतना ही हल्का होगा और ध्यान-रूप आत्मा उतना ही अधिक प्रत्यक्ष होगा। अतएव हमारे स्थूल शरीर म वाक (माया या प्रकृति) का आवरण बहुत स्थूल होन स 'कवि (आत्मा) पूणतया परोक्ष रहता है और उमकी जो अभिव्यक्ति भी होती है वह केवल आभाम मात्र रसस्वरूप ब्रह्म का जा क्षुद्रतम परमाणु मिलना भी है वह भी माया शबलित। यही कारण है कि हम अपन स्थूल अंग स जिन भागो को भोगत हैं उनस हम केवल धाणिक सुख ही मिलता है जिनम हमारी प्याम अतृप्त ही रह जाती है।

इस व अतिरिक्त वाक कवि या माया ब्रह्म एक ही रमस्वरूप आत्मा व ऋण तथा धन पण होन व कारण वाक द्वारा अभिव्यक्त कवि का स्वरूप रसात्मकता म अरसात्मकता अथवा वि रसात्मकता भी मिश्रित रसता है। हमके फलस्वरूप परम चतन्य तथा ध्यान-रूप आत्मा की अभिव्यक्ति हमारे स्थूल शरीर मे पानी व बुदबुदा की भांति अनेक धाणिक भावा के रूप म होती है। परन्तु ज्यो ही हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर जाते हैं त्यो ही वान बदल जाती है—रसात्मकता म अरसात्मकता की कटुता कम होन लगनी है भावा की क्षणभंगुरता व स्थान पर स्थायित्व ध्यान गता है और अनेकता एकता की ओर अग्रसर होन लगती है यहाँ तक कि विनामय वोग म जाकर मारा नानात्व एकत्व म परिणत हो जाता है जिस व भीतर सनात ध्यान मघा दृष्टि घृति मति मनीषा जूति स्मृति सकल्प ऋतु अमु का धादि मभी का समावेश हो जाता है। अनेकता के साथ ही उनकी विभिन्न इगी को रम की मधुमती भूमिका कहा है जिसका चित्र पातञ्जल या भाष्यकार 'याम न इस प्रकार दिया है —

मधुमतीं भूमिका साक्षात्कुवतोऽस्य देवा सत्त्वशुद्धिमनुपदयत स्यान्
 रूपनिमग्नयते 'भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयमोग, कमनीयेषु
 कथा, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वहायसमिदं यानम अमीकल्पद्रुमा, पुण्या
 मन्दाकिनी सिद्धा महपय, उत्तमा अनुकूला अप्सारस दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी,
 यन्त्रोपम काय स्वगुण सवमिदमुपाजितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमस्यमजर
 मभरस्यान् देवाना प्रियमिति ।

यहाँ पर आनन्द के अनेक भौतिक और अलौकिक प्रतीकों के द्वारा विज्ञान
 मय कोशमय मधुमती भूमिका की 'रसानुभूति का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न
 किया गया है। वेद में इसका वर्णन और सरल तथा सरस है —

यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिन् लोके स्वहितम् ।
 यत्रानुकाम चरण त्रिनाके त्रिदिवे दिव ।
 लोकायत्र ज्योतिष्मतस्तत्र मामुतकृधि ।
 यत्र कामा निकामाश्च यत्र वृध्नम्य विष्टपम् ।
 स्वधा च यत्र तपित्श्च तत्र माममत कृधि ।
 यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते ।
 कामस्तु यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि ।

(ऋ० वे० ६ ११३ ७ १०)

उपयुक्त अनेक क्षणिक भावों तथा 'एक मात्र रस के बीच में उन भावों
 की स्थिति है जो कई हैं और स्थायी हैं। यदि हम लोगों को ध्यान में रखकर
 चलें तो अनमय में स्थूल इन्द्रियों के सनिकर्ष से होने वाली अनुभूतियाँ ही
 क्षणिक भाव हैं जो प्रतिक्षण बदलत रहते हैं और विज्ञानमय में इन सब का
 एक तथा साधारणीकृत रूप है। इन दोनों लोगों के बीच में 'प्राणमय कोण' में
 पहुँचकर 'अनमय' के क्षणिक भाव स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं और मनोमय
 में जाकर यही स्थायीभाव रमत्व ग्रहण कर लेते हैं। स्थायी भावों की इन दोनों
 अवस्थाओं में कोई गुण भेद नहीं है केवल मात्रा भेद है। अतः भानुदत्त ने
 अपनी रमतरंगिणी में पहली अवस्था के स्थायीभावों को लौकिक रस तथा
 दूसरों को अलौकिक रस' कहा है। इन दोनों की व्याख्या करते हुए तरङ्गिणीकार
 ने कहा है कि पहले प्रकार के तो वे रस हैं जो ध्यावहारिक जीवन में अनुभव
 किये जाते हैं जब कि दूसरे प्रकार के वे हैं जिनकी अनुभूति स्वप्न देहान,
 मनाराय करन तथा काप आस्वादन में होती है। इसलिए रसानुभूति की
 अवस्थाएँ निम्नलिखित कही जा सकती हैं —

- | | |
|-----------------|-------------------------|
| १ अक्षमय कोश | क्षणिक भाव |
| २ प्राणमय कोश | नवस्थापी भाव (लौकिक रस) |
| ३ मनोमय कोश | नव रस (अलौकिक रस) |
| ४ विज्ञानमय कोश | एक रस (बह्दानन्द सहोदर) |

रसानुभूति के स्तर भेद के अनुसार, रस के विभावक पदार्थों प्रथवा वाक्यों के भी चार भेद हो सकते हैं —

- १ सञ्चारी काव्य जो केवल क्षणिक भावों का उद्गार कर सकता है ।
- २ स्थायी काव्य जो स्थायी भावों का विभावन कर सकता है ।
- ३ रसकाव्य जो उक्त भावों को अत्यधिक तीव्र तथा मरल करके उन्हें रसत्व प्रदान कर देने है ।
- ४ एक रस काव्य, जो अनेक रसों की परिणति केवल एक 'रस' में कर सकता है । वास्तव में इस प्रकार का कोई काव्य 'रसकाव्य' से भिन्न नहीं होता अपितु 'रसकाव्य' ही का-शास्त्रवादक के सहृदयपन आस्वादन प्रयत्न आदि भाव परिस्थितियों के कारण 'रस' मात्र की अनुभूति कराने में समर्थ हो जाता है । अतः वस्तुतः काव्य के भेद तीन ही हैं ।

नाट्य—श्रेष्ठ काव्य—परन्तु सभी काव्य रसानुभूति की अंतिम अवस्था तक पहुँचाने में एक से समर्थ नहीं हो सकते । ऊपर विष्णु चर्मोत्तर में वर्णित नाट्य, गान नृत्य, चित्र तथा मूर्ति नामक काव्यों का उल्लेख किया गया है । इनमें से कुछ तो केवल दृश्य हैं और कुछ केवल श्रव्य, इन दोनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का काव्य वह है जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों होने के कारण 'मिश्र' कहा जा सकता है । ऐसा काव्य ही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति कराने में सब से अधिक तथा सुगमता के साथ सफल हो सकता है क्योंकि जहाँ भाव काव्य केवल श्रोत्र या केवल नेत्र द्वारा हम विभावित करेंगे वहाँ मिश्र काव्य दोनों इंद्रियों द्वारा अपना प्रभाव डालेगा । इस प्रकार का काव्य नाट्य ही हो सकता है परन्तु नाट्य को नाटक का पर्यायवाची समझना भूल होगी क्योंकि इसके तत्त्व न केवल गीत, अभिनय तथा रस हैं अपितु चौथा तत्त्व पाठ भी है, जिसके साथ इतिहास महित वेद घम अथ उपन्यास तथा सग्रह का संबंध होने में नाट्य नाटक से कुछ पृथक् सा हो जाता है^१ ।

१ ना० शा० १ ११

२ जयज्ज पात्रमुन्वेत्तान् मामभ्यो गीतमेव च ।

यजुर्वेदाभिनयान् रसानाथ-खादायि ॥ (ना० शा० १ १ १७)

३ ना० शा० १ १५ १६

नाट्य शब्द की उत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है, जिसका प्रयोग केवल नृत्य नृत्य, अभिनय आदि अर्थों में होता है अतः उक्त 'नाट्य' को 'भरतनाट्य' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि प्रसिद्ध संगीत मन्त्र श्री जयदेवमिह के अनुसार 'भरत' शब्द के भ र तथा त क्रमशः भाव राग एव ताल के भी स्रोतक हैं। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने 'चलित' नामक नाट्य का जो वर्णन किया है उससे भी नाट्य के ऐसे ही रूप का पता चलता है जिसमें गीत वाद्य नृत्य भाव राग एव ताल और अभिनय सभी का समावेश था। 'चलित' में पहले मुरज-वाद्यनाद होता है फिर मालविका उपगान करके चतुष्पदगीत गाती है और गीत के बचनों का अपने अङ्गों द्वारा 'अभिनय' करती हुई 'नाट्य' करती है जिसका सुन्दर वर्णन निम्नलिखित है —

अङ्गरत्ननिहितवचन सूचित सम्यगथ ।

पादध्यासो लयमनुगतस्तमयत्व रसेषु ।

शाखायोनिमृदुरभिनयस्त द्विक्ल्पानुवृत्तौ ।

भावो भाव नुदति विषयाद रागवच स एव ॥

चलित नाट्य के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसके अंतर्गत गीत, वाद्य, अभिनय नृत्य आदि के रूप में दृश्य तथा श्रव्य दोनों तत्त्व रहने थे। परन्तु चलित नाट्य तो एक प्रकार है जिसमें एक गीत के अर्थ की ही अभिनीत किया गया नाट्य के व्यापक क्षेत्र में तो 'लोकचरित' का प्रदर्शन ही संभव था —

अगुण्योदभवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते ।

नाट्य भिन्नहृत्तेजनस्य बहुधाप्येक समाराधनम् ॥

लोकचरित के प्रदर्शन में ही रूपको का रूप धारण कर लिया। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में नृत्य अभिनय वाद्य, गीत आदि के साथ-साथ रूपको का भी विवेचन किया जाता है। नाट्य (विशेषकर रूपक) में पद्यगीत के साथ ही गद्य वाक्यावली का भी थोड़ा-बहुत प्रयोग सदा होता रहा। परन्तु गद्य नाट्य में पद्य की अपेक्षा प्रारम्भ में कम महत्त्व की थी क्योंकि वह तो केवल बोली ही जाती थी जिस कारण उसका नाम गद्य (बोलने योग्य) था। उसकी आवश्यकता तो कथानक को कहने मात्र में ही थी और रसोत्पत्ति में उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। इसके विपरीत पद्य गीत ही में एमी लय होती थी जिसके अनुसार नृत्य में पाद-ध्यास किया जा सके और अभिनय में पदन

१ ना० शा० ३६ ११

२ ना० शा० का १८वाँ अध्याय इस प्रसंग में दया जा सकता है।

३ गद्य गद्य धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है बोलना।

हो सकता था अपितु धर्म-संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, क्योंकि सत, चित् और आनन्द नामक तीन प्रथम धर्मों को समन्वित और शिवतम रूप में मनोनय से धम्ममय तत्व के विविध आचरण में अवतरित करना ही तो धर्म-संस्थापन है वेदव्यवहार है जिसको सावर्णिक बनाने की दृष्टि में नाटय की सृष्टि हुई मानी जाती है। मन्त्रिण नाटय में धर्म, धर्म, यथा धर्म से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्मों की शिक्षा होती है। एक समय जिस प्रकार समाज में कृत्रिम वेदियों पर होने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञ हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की प्राकृतिक वेदियों में होने वाले आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक यज्ञ के प्रतीक तथा व्याख्यान होकर वैदिक ज्ञान को सभी वर्णों के लिए प्रत्यक्ष करने में उसी प्रकार अग्नेय के सम्बन्ध सूक्तों को रूपरत्न प्रदान करके, सोमत्रयण धर्म में अवस्थानुवृत्ति करके अथवा 'महाव्रत धर्म' में पद्यगीतो का नृत्त-समन्वित नाटय करके, या महाभाष्य में उल्लिखित कर्म बध बलि बध जैसे लोक चरिता का रूपरत्न देकर अथवा रामायण तथा भागवत के आधार पर राम लीला एवं रासलीला करके वेद ज्ञान तथा वेद व्यवहार को सभी वर्णों के लिए योग्य बनाने का प्रयत्न किया गया। वेदान्त तथा वेदव्यवहार को सावर्णिक बनाने वाले सभी प्रयत्नों का तत्काल एक ही माग था और वह था अमृत को मृत सूक्ष्म को स्थूल, अज्ञान को बाह्य तथा अनिहत्त को निरक्त करना। इसकी प्राप्ति के लिए धारणा ध्यान तथा समाधि का भाग तो केवल ब्राह्मण या योगियों के लिए ही सम्भव था क्योंकि अथर्वण (क्षत्रिय ब्रह्म गृह) का जीवन मग्न में ऐसे व्यस्त था कि उनकी न तो इतना समय ही था और न शक्ति ही जो वे साधना के इस सूक्ष्मपथ का अनुसरण करत। अतः उनके लिए तो प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हुए उक्त स्थूल पथ का सहारा ही श्रेयस्कर हो सकता है। ब्राह्मणवर्णिक तथा सावर्णिक मार्गों का यह भेद मनुष्यों के सामाजिक गुण कर्म तथा शक्ति पर आधारित था न कि उनकी जन्मजात परिस्थितियों पर। नाटय धर्म सभी वर्णों का उद्देश्य जन साधारण को रसानुभूति के लिए अधिकधिक तैयार करना तथा वेद व्यवहार का सिखाना था। अतः उक्त सावर्णिक नाटय धर्म के आयोजन सावर्णिक आयोजन होत थे जिनमें ब्राह्मण वृद्ध सब भाग लते थे जब कि ब्राह्मणवर्णिक वयस्क साधना के लिए व्यक्तिगत तैयारियों की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति वेदाध्ययन, योगाभ्यास तथा तप

द्वारा हो सकती थी, अतः यह साधना कुछ विगिष्ट व्यक्तियों के ही वश की बात थी, जब कि नाट्य आदि सबके लिए सुगम तथा सुलभ हो सकते थे ।

काव्यसे साहित्य—वदिककाल में नाट्य के क्षेत्र में जो उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है वह सभी प्रकार के कार्यों के क्षेत्र में रहा होगा क्योंकि उस समय समाज में किसी व्यवहार में सकीणता अथवा अनुदारता का परिचय नहीं मिलता । परन्तु आगे चलकर यह बात न रह सकी और समाज में वैषम्य, भ्रमभाव सकीणता तथा अनुदारता ने घर कर लिया ।

इस परिवर्तन का कारण सम्भवतः प्रतिबन्ध और प्रतिषेध हैं जिनकी सृष्टि किसी ऐतिहासिक कारण से अपनी संस्कृति रक्षा के लिये इस राष्ट्र में की होगी । गृहयुद्धों में स्त्रियों से यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार छीन लेने के विषय में शास्त्रों में मिलता है और सम्भवतः इसी के परिणामस्वरूप ही स्त्रियों का यह अधिकार छिन भी गया । बहुत सम्भव है कि ऐसी ही किसी बाहरी प्रभाव से अपनी संस्कृति को बचाने के लिये वेदों को लिखन तथा प्रतिलोम विवाह करने आदि का निषेध किया गया हो और भारतीयों में स्वयं को उच्चवर्गीय आर्य तथा विजातीयों को निम्नवर्गीय दम्बु कहा हो । इस विषय में गम्भीर खोज और विचार के परिणामस्वरूप यही प्रतीत होता है कि राष्ट्र की समय किसी ऐसी जाति के सम्पर्क में आया जो वश्यावृत्ति, पशुवृत्ति आदि के साथ-साथ समाज में वर्गवाद, रंगभेद तथा जाति भेद की विपत्तियाँ रखता थी, क्योंकि वदिक समाज में ये विशेषताएँ निरस दह दिखाई नहीं पड़ती । इसी सम्पर्क से जिन कुरीतियों का आयात हुआ उसी से समाज में सकीणता तथा भेदभाव की उत्पत्ति हुई और इसके फलस्वरूप जो वर्ण व्यवस्था केवल वर्णनात्मक था और व्यक्तियों के गुण-बल स्वभाव का वर्णन भर करता था वही अब ऐसे वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगा जो जन्म तथा परम्परा के बल पर आश्रित हो गया । चातुर्वर्ण्य का आधार गुण, बल और स्वभाव के स्थान पर जन्म होने से बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया समाज में समत्व के स्थान पर वैषम्य आगया और आर्य अनाय ऊँच-नीच, पवित्र अपवित्र तथा स्पृश्य अस्पृश्य के भेदभाव का उदय हुआ । इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा से पर्याप्त संघर्ष होना स्वाभाविक था, परन्तु इस संघर्ष में विजयश्री नहीं की मिली हुई लगती है, क्योंकि यद्यपि दार्शनिक जगन् मथीमद्भगवद्गीता द्वारा तथा काव्य (बला) के क्षेत्र में भरत के नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थों द्वारा चातुर्वर्ण्य के पुराने आदर्शों की पुनः स्थापना की गई है, परन्तु यथायत इनका उद्देश्य दोनों विचारधाराओं में वह समझौता कराना था जो व्यवहार

मे स्थायीरूप में सफल न होना व कारण नहीं लहर को दया न सका ।

इस परिवर्तन का प्रभाव काव्यमात्र पर पड़ा प्रतीत होता है और नाट्य को तो इसमें पूर्णतया ही बदल दिया । अतः नट, नतक तथा दारुप आदि, जो बर्दिक काल में पवित्र लोग समझे जाते थे, रामायण और महाभारत में आकर गृहित तथा आचारभ्रष्ट समझे जाने लगे । नाट्य के वातावरण की यह विवृति निश्चित रूप से सूत्रकाल में प्रारम्भ हो गई थी क्योंकि नृत्य गीत, वाद्य आदि कौपीतकी आह्वान में जहाँ आदरणीय एवं पावन कर्णों हैं वहाँ पारस्करगृह्यसूत्र में वे द्विवर्णों के लिये मन्वया त्याज्य समझी गई हैं । नाट्य की यह दुरवस्था विद्वत्समाज (ब्राह्मणों) की अवहेलना का कारण तत्कालीन परिणाम दोनों रहे होंगे । बगवाद में विश्वास रखने व कारण तत्कालीन विद्वत्समाज ने, नटों आदि के पतित और आचारभ्रष्ट समाज को ऊपर उठाकर अपने स्तर पर लाने की अपेक्षा उनसे पृथक् होना तथा उनके सावर्णिक काय या नाट्य से पृथक् अपने लिये विशिष्ट काव्य या नाट्य की मृष्टि करना अधिक अच्छा समझा । इसलिये जिस काय शब्द का प्रयोग कलामात्र व लिय होता था वह अब विद्वानों की कला के लिये सीमित होना पर उक्त ग्रहित नाट्यादि में विपरीत सहित कायनाट्यादि होते होते साहित्य हो गया । इस गृहित काय या साहित्य के भी श्रव्य दृश्य तथा मिश्र नामक भेद ही बने रहे परन्तु इनके अतगत अब लिखित काव्य ही हो सकता था, क्योंकि मूर्ति संगीत चित्र तथा नाट्य आदि तो निम्नवर्ग के गृहित वातावरण में थे जिनसे दूर रहना अधिक अच्छा समझा जाता था । श्रव्य काय में गद्य तथा पद्य दोनों का अन्तर्भाव था और मिश्र में दोनों का मिश्रण । दृश्य काव्य का क्षेत्र अब बहुत सीमित हो गया और उसके अतगत मूर्ति चित्र, स्थापत्य आदि का होना असम्भव हो गया जिससे अबल नाट्य ही को अब श्रव्य काव्य माना गया । यह दृश्य काव्य भी संभवतः बहुत काल तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित रहा परन्तु जसा कि वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में किसी प्रकार का सुश्लेषपूर्ण तथा सहित श्रव्य काय का होना नागरिक जीवन के लिए आवश्यक माना जाने लगा था । इसी प्रवृत्ति के अनुसार, नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने गीत

१ वा० स ३० ४ तै० आ० ३ ४, ७ वी० भा० २६, ४
 २ म० भा० १५ ३ १० वा० २, ६० १५ २, ६६, ३
 ३ २६ ५
 ४ ० ७, ३

वाद्य, रूपक तथा अभिनय आदि को सुसंस्कृत रचि तथा वदिक सदाचार व अनुसूच्य बनाकर सहित श्रम्य और दृश्य काव्य परम्परा को पुन प्रतिष्ठित किया परन्तु कालांतर म विद्वत्बग ने नाटय के श्रम्य प्रकारा तथा श्रगो को छोडकर बवल रूपका को ही अधिक प्रपनाया कयाकि इसम आदश लोक चरितों का चित्रण होने से इनके द्वारा सदाचार को पुष्टि के लिये अधिक अवसर मिल सकता था । अतएव श्रम्य काव्य परम्परा म एक रूपक परम्परा चल पडी जो वर्तमान युग तक निरंतर चलती रही ।

साहित्यवादी विद्वानो क हाया म काव्य न जब नया रूप पाया तो उसका बवल क्षेत्र ही सीमित नही हो गया, अपितु उसक परिमित कलवर म बहने वाल रक्त को स्वस्थ तथा शुद्ध करने के लिये 'शल्य चिकित्सा का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया । ब्रह्मान-दसहोदर रस को काव्य का लक्ष्य मानत हुए उन्होंने तद्विरोधी तत्त्वा को पूणतया निकाल फेंका । यही कारण है कि नाटय के विभिन्न श्रगो मे स, भारतीय नाटयशास्त्र में सभी क लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न किये जाने पर भी, केवल रूपक ही अपनी स्थिति को अभ्युण्ण रख सका और रूपको मे भी उही प्रकारो का प्रचार अधिक हुआ जो सुरधि, सदाचार तथा मर्यादा का निर्वाह भली प्रकार कर सकते थे । अतएव नाट्य शास्त्र म 'समवकार' आदि क लिय बहुत स बंधकुटिलानि वजित कर दिये गये और प्रहसन' म बवल 'लोकोपचारयुक्ता वार्ता को ही स्थान दिया गया । इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नाटक-नाटिकाभा के प्रतिरिक्त रूपक व श्रम्य प्रकारों को पनपने का अवसर कम मिला ।

साहित्यवाद या मर्यादावाद की इस काट छाँट के होत हुए भी, काव्य न अपने नय रूप मे पुरानी सभी स्वस्थ प्रवृत्तिया को बनाए रखा । रस निष्पत्ति प्रतिम ध्येय होने के कारण, तदनुकूल गुणो तथा ध्वनियो का काव्य म होना पहले के समान ही चलता रहा । यही कारण है कि न बवल संस्कृत के पद्य-काव्या म, अपितु गद्य-काव्यो म भी विषय तथा परिस्थिति व अनुकूल वण ध्वनियो का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है , पद्य की संगीतात्मकता तथा नाटकों मे गीत और वाद्य का प्रचुर प्रयोग भी इसीलिये बना रहा । नाटय व सभी श्रग नाटक मे होने व कारण उसको रस निष्पत्ति के लिए सब स अधिक उपयुक्त समझा गया । इसलिय मस्कृत म श्रम्य रूपका की प्रथमा नाटक ही अधिक लिखे गये ।

काव्य की परिधि सीमित हो जाने से गद्य तथा पद्य को विकसित होने का अवसर मिला क्योंकि अब उन पर स नाटय का प्रभुस हट गया और

उनकी रचना स्वतंत्र रूप से होने लगी। अब नाट्यशास्त्र में उत्तिरित चार साधारण अलङ्कारों के अतिरिक्त अर्थ अलङ्कार, वक्तव्यो एवं चमत्कारों का भी प्रयोग होने लगा। नाट्य के नियंत्रण में रहने हुए, पद्य में कोई प्रत्यात्मकता सम्भव नहीं थी, इस नियंत्रण के शिथिल भयवा दूर होने पर ही उसमें नये-नये प्रबंध स्वरूपों की मृष्टि का द्वार खुल गया। अब पद्य केवल श्रव्य न रही वह लिखी तथा पढ़ी भी जाती थी इसीलिये उसमें बुद्धितत्त्व के निम्ने अधिक अवकाश या जिसके फलस्वरूप उसमें बौद्धिक चमत्कारों की निरन्तर वृद्धि होनी गई। अम साध्या वक्रता विविधता विलम्बता अलकारिता तथा कृत्रिमता बढ़ती गई। गद्य के लिए तो यह स्वतंत्रता अत्यन्त लाभप्रद हुई। नाट्य के दासत्व में रहत हुए तो उसे काव्य रूप ग्रहण करने का अवसर ही न मिलता था, परन्तु अब उसमें कथा कहानी, आख्यान, आख्यायिका आदि के रूप धारण किये और पद्य के सभी शृंगार सौष्ठव तथा गति विभव उसमें आने लगे। साथ ही विद्वानों के हाथ में पडकर जहाँ गद्य और पद्य काव्य का स्वतंत्र विकास का अवसर मिला वहाँ उसमें बुद्धितत्त्व का प्राधाय भी बढ़ना गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी कभी बौद्धिक कलावाजी को ही काव्य समझ लिया गया और रस निष्पत्ति का लक्ष्य केवल 'दम्भ मात्र' रह गया।



वेन, कुत्स और रस

पिछले अध्याय के अन्त में उल्लिखित वेन को कौपीतकी ब्राह्मण^१ में आत्मा माना गया है। वेन शब्द कामनायक 'वन् घातु से निष्पन्न होने से (शु० १० ६४२ ऐ० १२०, १० ७४, १, १६) आत्मा का भावनापक्ष ही प्रकट करता है। इस दृष्टि से वेन के दो रूप हैं—एक से तो वह हमारे अस्तित्व के हिरण्यमय रूप (पक्षे हिरण्यये) में आसीन है और दूसरे से वह हमारी प्रियता के रूपादि विभिन्न सत्ता (प्रियस्य योनिषु) में प्रिय होकर विचरता^२ है। पहले रूप में वह विज्ञानमय कोश का सूक्ष्म गम है जो ज्योति की जरायु से परिवर्धित है और जिसको विप्र^३ लोग केवल अपनी मतियों के द्वारा चाटते हैं (१० १-३, १) क्योंकि विप्र ही उसका इस रूप को जानते हैं और वे ही उस तक श्रुत के द्वारा पहुँचते हैं (१०, १२३, ४), यही वेन नाक (विज्ञानमय कोश) में स्थित हिरण्यमय सुषुण है जिसको हम हृदय से कामना करते हुए (हृदा वनन्त) ही अच्छी तरह देख पाते हैं (१०, १२३ ६) मनोमय से लेकर अक्षयमय कोश तक सूक्ष्म शरीर से लेकर स्थूल शरीर तक वह अनेक प्रिय अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों (प्रियाणि) को जन्म देता है और नाना प्रकार के आयुधा (आध्यात्मिक एवं भौतिक शक्तियों) का प्रयोग करता है परन्तु विज्ञानमय (नाक जा कि तृतीय रजस है) में उक्त अर्वाक आयुधानि और प्रियाणि^४ प्रत्येक आयुधानि और प्रियाणि में परिणत होकर वन द्वारा धारण किये जाते हैं और तब वह देखने में सब के समान सुन्दर रूप (अस्त) धारण (१०, १२३, ७) कर

१ अनाये वन (८५)

२ अत्रप्रियस्य योनिषु प्रिय सन्मोक्षं पक्षे हिरण्यये (१०, १२३, ५)

जाता है और अततोगत्वा ममस्त प्रिय अनुभूतिया (प्रियाणि) के नानात्व को धरणी युक्त ज्योति म मण्डित करता हुआ वह भानु एक बूद (द्रव्य) होकर समुद्र (विज्ञानमय की अद्वैत मता) म समाहित (१० १२३,८) हा जाता है। समुद्र की मधुमान ऊर्मि—इच्छा, ज्ञान और त्रिया गतिया व त्रिविध रूप का मधुराण्डरसवत् मपृक्त करनेवाले विज्ञानमय आत्मा की पराशक्ति की वेद म ज्ञ गो रूप मे कल्पना की गई तो उसके सारभूत रस को घत नाम दिया गया जिम पणियों ने चुराकर त्रिविधरूप म छिपाया और फलत वृत्रवध व पशवान् व वेन (सोम) सून्य (अग्नि वश्वानर) तथा इन्द्र क द्वारा त्रिविध रूप म उत्पन्न किया जाता है। इसी को ऊपर सोम्य रस वृत्त्यरस तथा इन्द्रिय रस भी कहा जा चुका है और जब स्थूल एव सूक्ष्म देह म इही तीना रसा के फलस्वरूप होने वाली नाना प्रकार की भावनाओं त्रियाओं और ज्ञान प्रक्रियाओं की नदियों अथवा आप के रूप म कल्पना की गई तो विज्ञानमय कोण को उनका स्रोत होने के कारण पञ्च तथा उनका गतव्य होने के कारण समुद्र भी कहा गया। अत समुद्र अथवा हृद्य समुद्र (४५८ १ ५) म उठने वाली एक मधुमान ऊर्मि अततोगत्वा गतव्या घतधारार्यो होकर गतिशील होती हैं जिनके मध्य म हिरण्यय (मान दमय) पुत्पत्पी हिरण्यय वेतम (स्वर्णम बँत) कवल साक्षीमात्र हो कर देखता है (४,५८ ५) जबकि आंतरिक हृदय और मन द्वारा पूयमान (अतहृदा मनसा पूयमाना) घत की ऊर्मिया प्रीणयित्री मरिताओं की भीति (४५८ ६) मन्थक प्रकार से खवण करती हैं। यही यह हृदय की आवश्यकता नहीं कि यही विज्ञानमयकोणपी समुद्र वह स्थान है जहाँ सोम और यज्ञ का प्रथम मेवन होता है (४५८ ६) और सद्योजात जातवदस अग्नि का घत की धारायें समिधा वनवर मुस्वराती हुई कल्याणी ममना युवतिया व ममान (४,५८ ८) अथवा आभूषण पहन हुई कयाओं व ममान (४५८ ६) प्राप्त होती हैं।

दग्नेणि अकसाति घत्त, कुत्त पुरुकुत्त और उज्जना काय—हमारे अ तस्तत म प्रवाहित होनेवाली य धाराय तभी साथक सिद्ध हायी जब ये मधुमती होकर वह अत त्वेता म विनय है कि वह हमारे इस या का प्रणयन करे (४५८ १०) (४५८ १०) और घत की धारायें मधुमती होकर (४,५८ १०) प्रवाहित हा जिमसे अततोगत्वा उस मधुमती ऊर्मि का आस्वादन हा सके जो

१ त्रिग दिन पण्डितु क्षमान गति दवानो धनमन्वविन् ।
इन्द्रक गृह्य षक जज्ञान वनादक स्वधया निन्दन ॥ (४,५८,४)

आप व निगमनस्थान (अनीक) रूपी इन्द्रवृत्रसग्राम (समिधे) म हृदयन्पी समुद्र (अतःसमुद्र हृदि) म और जीवन म (आयुषि) मवत्र लाया गया (आभृत), तथा जिमका यह सम्पूर्ण रूप (विश्व भुवन) उम दवता व 'धाम (आनन्दमय) म अधिष्ठित है (४५=११)। उक्त विनायकयोगस्य मग्राम रूपी आप व निगमनस्थान को ही अयत्र वेन का निगमनस्थान (ओणि) कहा है जिसका खोलत ही इन्द्र मन सप्तशीपण्य प्राण तथा अनमय की त्वक इद्रिय म नवधा विभक्त होकर अपना परात्म दिखाने योग्य नोधा' हो जाता है (१६१,१४), जिसक फलस्वरूप छी (मनोमय) और पृथिवी (स्थल दह) काँप उठते हैं। 'नोधा' के उक्त नौ म वन के उक्त निगमनस्थान को जाड नेन म विनायक से लेकर मनोमय प्राणमय और अनमय तक फला हुआ दस निगमनस्थानावाला एक यन (दश ओणिम् यन) हा जाता है जिसम इन्द्र को मधुपान करने व लिये आहूत किया जाता है अथवा गोगृह (गो पस्त्यम) को गृह की प्राप्तिहेतु (सूयाय) व्यक्त करन व लिए कहा जाता है। एक दूसरी दृष्टि से उक्त चार कौशा म आवद्ध जीवात्मा उक्त दश निगमनस्थानो वाला (दशओणि) तथा दश इन्द्रियों का दशमायाग्रा वाला (दशमाय) वतम है जिमको मुक्त करने व लिए इन्द्र से याचना की जाती है। पिछले अध्याय म उल्लिखित पूय और नय परावत और अर्वावत् व भेद स विनायक काग म उक्त पागवद्ध जीव को 'दशओणि कवि कुत्स तथा मनामय म पुष्कुत्स कहा गया है जिसके लिये सूयप्राप्ति करने म (अकसातो सूयस्य सातो) इन्द्र को मात अथवा समस्त (सप्तपुर ६२० १० विश्वासा पुरा ५२०,३) पुग का विदीण करना पडता है। अयत्र प्रथम को उगना कवि तथा दूसरे को प्रथम स उत्पन्न होने के कारण उशना काव्य (कवि का पुत्र) भी कहा गया है हिण्यय (आनन्दमय) कोग का पुरुष विनायक व उगना कवि का भी पिता है (११६४ १६), अत उसको पिता का भी पिता अथवा महापिता कहा गया है। मनोमय का उशना काय अथवा पुष्कुत्स मनोमय प्राणमय और अनमय के कुल मिलाकर उक्त नौ स्थाना म विभक्त होन से नववास्त्व

१ विव यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हयन् यत्र सधमादे ऋतोणिम् (१०,६६ १०)

२ प्रपश्यन्सुर हयन् गोराजिकृषि इत्ये मर्याव (१० ६६,११)

इमक विपरीत देखिय ऊपर 'दिरण्यव वेतम' जा साची मात्र है।

४ अ० ६,२०,८

५ अ० ४,२६,१ ६,८७,३ ६ ६७,७

६ अ० १ ५१ ११ ८,२३ १७ ८=,११

धयवा नाना (पुरु) प्रकार की कुत्ताओं से युक्त होने के कारण पुरुकुत्स कहलाता है, अभीष्ट यही है कि नव्य इन्द्र की महायता से समस्त पूरव (पुरो मे रहनवाली शक्तियाँ) कुत्ताओं को छोड़ नाना यना से (यन) स्नवन कर उन्हें जिसके फलस्वरूप सप्त पुरो को दग्ध कर दिया जाय, नव्य इन्द्र, पूरव इन्द्र में पारणत होकर असुर प्रभाव से पड़े उगना वायव्य व लिये, गृह्य वास-स्थान बनाता हुमा (वरिवस्यन्) वृद्धि को प्राप्त करे तथा नववास्त्व पुरुकुत्स अपने महान् पिता के लिये धनुदेय हो जाय (६२०, १० ११) ।

श्रीणिद्वय, अग्नि, इन्द्र और सोम—उक्त दशश्रीणि यन में पूरव-नव्य भेद से दो श्रीणिया (निगमनस्थानों) की भी कल्पना की गई है। सोम इन दोनों श्रीणियों का पुत्र (६ १०१, १४), धारणकर्ता (६, ६५, ११) तथा रस (६, १६, १) कहा गया है। यह यज्ञ तभी तक देवयन रहता है जब तक यही पुत्रहण इन्द्र अग्नि सोम के पराक्रम से स्व, प्रकाश एव उरु अन्तरिक्ष हो सोम हवि से यजन होता रहे परन्तु मानवीय अस्तित्व में देव और अदेव, शिव और अशिव तथा यनीय एव अयज्ञिय दोनों रूप हैं (ऋ० १० १२४, २३) जिनमें से यदि दूसरे का प्रभाव अधिक हो जाता है, तो मानवीय अस्तित्व रूपी राष्ट्र पर असुरों का साम्राज्य हो जाता है अग्नि, सोम वरुण आदि देव पदच्युत हो जाते हैं (१० १२४ ४) जीवात्मा कुत्स या पुरुकुत्स हो जाता है और विरथायी दीप तमस (ज्योक दीपतम) में हमारा देवरूप आत्मा प्रमुत्त हो जाता है (१०, १२४ १) इसके विपरीत जब प्रथम का प्रभाव बढ़ता है तो ऋत के अनेक धाम बनने लगते हैं (१०, १२४, ३), असुरों के माया हीन होने पर वरुण देव ऋत और अनृत का विवचन करता हुमा मानवीय अस्तित्व रूपी राष्ट्र का आधिपत्य (१० १२४ ५) ग्रहण कर लेता है और पुन वृत्रघ्न के फलस्वरूप स्व वाम, प्रकाश उरु, अन्तरिक्ष तथा सोमयन आदि सभी प्राप्त हो जाते हैं। एक को देवराज्य कह सकते हैं तो दूसरे को असुरराज्य मानना ही ठीक है जिसका आवरण ज्योतिमय है और दूसरे में वृत्र है जिसका आवरण तमोमय प्रतीत होता है। दोनों ही के आवरण के लिए ऋग्वेद में वण गद्द प्रयुक्त होता है अतः जब इन्द्र वृत्र वध द्वारा उसका दाम वण को गुहा में बन्द (ऋ० २, १२, ४) कर देता है,

१ ता० मा० ७ ५, ०० जे० उ० २, ७ ०
 २ इन्द्र स्वर्णिमिन्नाम वामभय प्रकाश उच्यन्तरिचम् ।
 इनाव वत्रं निरेदि सोम हवि त्वा सन्त इविपा यनाम । (१० १२५, ६)

तो आप या नदियाँ (इच्छा पान, क्रिया की धारायें) वरुण वण की धारण करके शेमकरी बन जाती हैं (१०, १२४, ७), वस्तु समय पस्यता है और वृत्र की विजय होने से मानवीय यत्तिस्व 'अदेव हो जाता है तो हमारा देवरूप आत्मा 'गुहा' में चला जाता है (१०, १२४, २) और हमारा अशिव रूप आत्मा 'शिव' (गुहा) को छोड़कर पुन जीवन की शुष्क अरणी में प्रवेश (१० १२४ २) करता है। अशिव रूप आत्मा का पिता 'असुर' है (१० १२४ ३) जबकि शिव रूप का पिता देव प्रतीत होता है। आत्मा के ये दोनों पक्ष सख्या इन्द्रकुत्स (४ १६, १०) एक ही रस पर विराजमान (सरस्य) होत हुए (४, १६, ११) बहे जाते हैं परन्तु यह तभी होता है जब अशिवरूप आत्मा अपने असुर पिता को छोड़कर इन्द्र का वरण करता है (१०, १२४, ४) और अग्रणिय भाग से अग्रिय भाग (१०, १२४, ३) में आना पस्य करता है पाशवद्ध बलिपशु से स्वतंत्र यजमान बनने की कामना करता हुआ कह उठता है कि 'हमारे भीतर एक सुस्तुति, एक पानरश्मिरूप गोसमूह को प्रेरित कर कल्याणी सम्पत्ति का विधान कर दो। हमारा देवता हमारे इस यज्ञ का प्रणयन करे और घत की मधुमती धारायें प्रवाहित हो उठें।

आदि कवि और आदि कविता—वस्तुतः यह कामना उस ज्योति की याचना है जिसे स्व अक, सूय द्युम्न आदि नाम दिया गया है और जिसके कारण उक्त यज्ञ स्वर्पाति, अकसाति, सूयसाति द्युम्नहृति आदि नाम ग्रहण करता है अतः यह एक ऐसी कामना है जिससे कुत्स (मानवात्मा का अशिव पक्ष) कामनाहीन (निकाम) होकर इन्द्र का सखा ही नहीं सरूप' हो जाता है (४, १६ १०) क्योंकि इन्द्र मानव मन (नमण) बनकर मायावान् अग्रह्या दस्यु' (वृत्र) को (४ १६, ६) नष्ट कर देता है। वस्तुतः यह पीडित जीवात्मा का आतनाद है जिसे शुन शेष, त्रित, पुरुकुत्स आदि के स्वर में वरुण बृहस्पति, इन्द्र आदि देवता सुनते हैं। आत्मा का यह शोक जब इलोकत्व ग्रहण करने के लिए मचल उठता है, तभी वह कुत्स 'कवि बन जाता है जिसके लिए मानव मन (नमण) इन्द्र मायावी दस्यु वृत्र का वध करने, मानव-जीवन को सूय साति यज्ञ में परिणत (४, १६ ६) कर देता है। यह कवि अपनी कवित्व शक्ति के द्वारा (कवि कवित्वा दिवि रूपमासजत) अतिमानस द्युनोक में जो रूप सजाता संभालता है वही इच्छा पान, क्रिया अथवा सोम्यरस, इन्द्रियरस

१ अग्रयण सुस्तुतिं शब्दमाजित्वात्मासु मद्रा द्रवियानि धत्ते।

हा यश्च यत्नं देवता नो धनस्य धारा मधुनल्पवन्ने।

तथा कृत्वरम व रूप मे वरण के पुत्र्य मिथव' अथवा दिय आप बनकर
क्षेमविधान बरत हुए सत्रिय हो जाते हैं जिनके भीतर एक 'सपुन हस बनकर
रहन हुए इद्र को वेवन 'मनीपा के द्वारा ही जाना जा सकता है (१०, १२४
७ ६)।

आदि कवि वाल्मीकि—यही कुत्स क कवि बनन की कथा कुत्सितकर्मा
वाल्मीक के कवि होन म भी देखी जा सकती है। भारतीय परम्परा के अनुमार
वाल्मीकि (वाल्मीक) आदि कवि मान जाते हैं। कहा जाता है कि व ब्राह्मण
कुल म उत्पन हुए थे परन्तु बचपन म ही उह माता पिता न त्याग दिया था।
कुछ पवतीय लुन्टो ने उह शरण दी और लूटपाट का पेशा सिखाया जिसम
व जीवन निर्वाह करने लगे। एक दिन उहोन एक साधु को देखा। उसके पास
आते ही उहाने कहा— जो कुछ हो वह रख दो नहीं तो जीवन म हाथ
घोना पड़ेगा। साधु ने वाल्मीक को यह जानन क लिए घर भेजा कि उनक
अथ मम्बधी इन कुकर्मों म साथी है या नहीं। जब वह अपने घर पहुँचे तो
उनका भ्रम जाता रहा क्योंकि स्त्री और बच्चे तक उनके कुकर्मों म साथ देने
के लिए तयार न थ। साधु ने उह उतटा राम नाम जपने का उपदेश दिया
और स्वयं वहा स चला गया। वर्षों तक वे राम का नाम जपते रहे। बड़े-बड़े
उनके शरीर पर एक भारी बाँवी बन गई। अत म वहा साधु आया और उसने
वाल्मीक (बाबी) म से उहे निकाला। वाल्मीक म से निकलने क कारण उनका
नाम वाल्मीकि हो गया और वे बड़े भारी ऋषि हो गए। एक दिन जब व
स्नान कर रहे थे तो उहाने देखा कि एक निपाद न त्रौञ्चमियुन म से एक
को मार डाला है। ऋषि क हृदय म मृत पक्षी के लिए बरणा उमड पडी।
घातक पर क्रोध करके उहोने उसे आप दिया। यह आप अनायास ही एक
शलाक के रूप म उनके मुह से निकल पडा। यह सबसे पहली कविता थी।
ब्रह्मा जी क कहने स तब महर्षि वाल्मीकि ने रामायण नामक एक काव्य लिखा।
यह एक छोटी सी कथा है जो आदि कवि तथा आदि कविता को सुनने के हम
कही जाती है। साधु सता क मम्बध म अनौकिक घटनाओं को सुनने के हम
अभ्यस्त हैं अत वाल्मीकि के जीवन की घटनाओं पर हम भल ही विश्वास
कर लें परन्तु यह विश्वास करना कि वाल्मीकि स पहले कविता ही नहीं थी
और सबसे पहले उहोने ही कविता की मयक लिए सम्भव नहीं। हम दपने
हैं कि रामायण क बहुत पहले स ही एक विशाल बर्दिक गार्हित्य विद्यमान था।
स्वामी दयानन्द मरस्वती क अनुसार यदि चार संहिताओं को प्रतीरूप्य माना
जाय तो भी तत्तरीय संहिता, ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद साहित्य म जो

कवित्वपूर्ण स्थल भरे पड़े हैं उनका देखकर रामायणकार को आदि कवि नहीं माना जा सकता। यदि सारे बद्रिक साहित्य को ही अपौरुषेय मान लें तब भी भाषा तथा साहित्य के श्रमिक विकास में विद्वान् रखने वाला वर्तमान युग यह कभी नहीं मान सकता कि रामायण जैसे उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि यथायक बिना किसी पूर्व परम्परा के हो गई। थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि श्रमिक शक्ति सम्पन्न ऋषियों के लिये इस प्रकार के चमत्कार कर लिखाना कोई असम्भव नहीं है, तो भी यह कसे सम्भव है कि उससे पहले मनुष्य हृदय रखते हुए भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए किसी-न किसी प्रकार के काव्य का निर्माण न करता हो।

जब रमात्मकता कविता का प्रधान गुण है और यह सचमुच ब्रह्मस्वाद-सहोदर है तो कविता का प्रारम्भ तभी से मानना पड़गा जब स मनुष्य म रमानुभूति की शक्ति है क्योंकि वह अनुभूति की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता चाह वह अभिव्यक्ति गद्य म हो या पद्य म अनुष्टुप म हो या त्रिष्टुप म। रेडियो रेल तार आदि वस्तुओं के विषय म कहा जा सकता है कि उनका जन्म श्रमिक के म, श्रमिक काल म और श्रमिक व्यक्ति के द्वारा हुआ क्योंकि ये दृश्य भूला वस्तुएँ हैं जिनका समाज न अपने जीवन-काल म न केवल प्रारम्भ और विकास देखा है अपितु उनका पूर्व अभाव भी देखा है। परन्तु कविता तो अनुभूति मूलक होने से इस पन्थाय-व्यय म नहीं आ सकती वह तो इच्छा चान क्रिया भाषण प्राण मन आदि तत्त्वों के वग म आती है जिनका व्यक्ति तथा समाज के साथ अयो-याश्रय सम्बन्ध है और जो किसी न किसी रूप म तब से है जबसे व्यक्ति या समाज का अस्तित्व है। इसलिये समाज अथवा भाषण भाषा आदि सामाजिक सम्पत्तियों के इतिहास में कविता का प्रारम्भ कत्र और किम के द्वारा हुआ यह बतलाना उतना ही असम्भव है जितना प्राण, मन अथवा समाज आदि के उत्पत्तिकाल को बतलाना।

परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि आदि कवि तथा आदि कविता के विषय म जो परम्परागत कथा चली आई है वह निरर्थक है। वस्तुतः इतिहास तथा काल के विषय म हमने जो दृष्टि धारणा बना रखी है उसका कारण हम उसे समझ ही नहीं पाते। हमने समझ रखा है कि पदाय विज्ञान के जगत् के अतिरिक्त कोई जगत् ही नहीं और न उसका प्रेरक काल म भिन्न कोई काल। यथाय म जन्म विष्ठाण्ड स्थूल शरीर के अन्तगत आने वाले अन्तरममय कोण तथा प्राणमय कोण तक ही समाप्त नहीं हुआ जाता उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी केवल विष्ठात्मक, रमात्मक, वायव्य तथा वद्यत् पदार्थों से निर्मित स्थूल जगत्

तक ही सीमित रही है। स्थूल शरीर एवं स्थूल जगत् के परे सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म जगत् भी है जिसको 'मनोमयकोश' कहा जाता है और जिनमें उत्पन्न होकर काल स्थूल जगत् में शीघ्र कर रहा है। मनोमय कोश में भी परे विज्ञान-मयकोश है जिसमें कारण शरीर और कारण जगत् आ जाते हैं। 'मी कोश में महाकाल' की शीघ्र दिखाई पड़ती है जो मनोमय कोश में सुविकसित होकर स्थूल शरीर तथा स्थूल-जगत् के काल का रूप धारण कर लेता है। बहुत-सी वस्तुएँ जो हम स्थूल जगत् में अनन्त और अनादि सी दिखाई पड़ती हैं वास्तव में इस कारण जगत् तथा महाकाल में मात्र और मादि हैं। यहाँ ही ग्यानुभूति तथा तज्जय कविता का आदि भी हम देना चाहिये।

अतः आदि-कविता की उत्पत्ति किसी व्यक्ति विशेष में न मानकर जोव स माननी पड़ती। जोव ब्राह्मण अथवा ब्रह्म के कुल का है पर तु पितृ वियुक्त होकर इस शरीर में भटकता है। शरीर में अनेक पव (सधुय भाग) हैं अतः उम आध्यात्मिक रूपको में पवत (मू० पववत) भी कहा जाता है। 'मी पवत पर रहने वाले काम शोध आदि तुटेरे ही उस ब्राह्मण सत्तान को अपनाते हैं और उस अपना लुटपाट का पैना लिखनाते हैं। अतः में परममाधु परमेस्वर की कृपा से उस जान होता है कि जिस माया तथा तज्जनिन विषयो के लिये वह काम शोध आदि तुटेरो का कुत्सित पैना करता है वे भी उमका साथ देने के लिए उद्यत नहीं। इस जान से उस वैराग्य उत्पन्न होता है और सुमाण पर चलने की तीव्र इच्छा जाग पड़ती है। माधु उसको उट रामनाम का उपदेश करता है जिसमें द्वारा वह ब्रह्म के समान हो जाता है। यही मन्त्रि वाल्मीकि है जिनके विषय में तुलसीदास जी ने कहा है—

उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना ॥

परन्तु ब्रह्म समान होने से पहले उह स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर की विज्ञान बल्मीक (बाँधी) को हटाना पड़ता है तब कहीं वे वाल्मीकि होकर विज्ञानमय कोश या कारण शरीर में पहुँच कर उक्त गति को पात ह। ब्रह्म समानता को ही रम के प्रसंग में ब्रह्म सहोदरता कहा गया है और इसी को प्राप्त करके तपोशुद्ध जीव अनाद मय-कोश को रामायण को समझना अनुभव करता है और श्लोकवद्ध करता है और श्लोकवद्ध करने में समर्थ होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विज्ञानमय कोश में ही 'सधुमती भूमिका है और वहीं पहुँचकर जीव यथाय कवि' कहलाता है।

यही आदि कवि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँच हुए योगी कवि में दृढ भाव नहीं रह जाता। इसमें नीचे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में जीव

तथा माया आर्लिगनवद्ध-से (सपरिष्वत्ती इव) कहे जाते थे, उन "द्वा सुपर्णा समुज्जा सखाया" में से एक मिट जाता है और केवल 'अयदिव' की अनुभूति मात्र रह जाती है—“यत्रवाऽयदिव स्यात्तत्राऽयो यत्पश्येदयोऽयजिघ्रसेदयोऽयद्रसयेदोऽयोऽयत्स्पृशेदयोऽयद्विजानीयात् ।” इस 'अयदिव' की अनुभूति यथाय 'द्वत' नहीं है यह तो 'अहकार' मात्र है जिसमें 'स्व' 'इदम्' रूप में रहता है —

“अयातोऽहकारादेनावाहमेवाधस्तादहमुपरिष्ठादह पश्चादह पुरस्तादह दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद सवमिति । स वा एष एव पश्यनेष भवान एव विज्ञाननात्मरतिरात्मश्रीड आत्ममियुत आत्मानन्द स्वराट् ।”

आदिकवि के रूपक में, इसी जोड़े को श्रौच मिथुन कहा गया है जिसमें एक के वध होने पर ऋषि वाल्मीकि द्वारा आदि कविता को जन्म मिलता है । श्रौच शब्द ध्वन्यनुकरण मूलक है और जिस पक्ष विशेष को यह नाम दिया गया है वह शब्द भी ऐसा ही करता है । योगी भी ध्यानावस्था में अनेक प्रकार के शब्द सुनता हुआ एक ऐसे शब्द पर पहुँचता है जिसको ह्रीं, श्री, कौञ्ज, आदि कहा गया है और जो सुनने में कौंच खससा लगता है । अतः इस अवस्था में 'जीवमाया' को श्रौच मिथुन कहना पूर्णतया उचित है । इसका वध करने के लिये योगी की दोनों भृकुटियों से जो एक धनुष बनता है उसको अपना पडता है इस धनुष में प्रत्यञ्चा नहीं होती (तु० क० जाम परच नहीं रे—कवीर) । नासिकाग्र से लेकर दोनों भृकुटियों के बीच में स्थित ध्यान-बिन्दु की ओर चित्त एकाग्र करत रहने को शर-संधान करना कहते हैं । स्थूल-शरीर में शीटा करने वाला मन रूपी याघ इसी शर-संधान द्वारा एक श्रौच पक्षी को मार गिराता है जिसके फलस्वरूप ऋषि द्वारा शापित होकर वह (मन) सदैव अज्ञान तथा अस्थिर रहता है ।

इस शर-संधान द्वारा लक्ष्य वेध तभी हो सकता है जब रामनाम का उलटा जप कर लिया जाय । उलटे राम नाम का अर्थ केवल 'मरा समभा जाता है परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ दससे अधिक है । वास्तव में जिम शब्द स किमी के स्व की अभिव्यक्ति होती है वही उसका नाम है अतः मायायुत आत्मा की इन सभी अभिव्यक्तियों को नाम कहा जा सकता है । इस नाम का सीधा क्रम तो आनन्दमय से अन्नमय की ओर जाना है और अन्नमय में आनन्दमय की अभिव्यक्ति की ओर जाने का उलटा जप कहा जाता है । जो

जीव स्थूल-जगत् के भ्रमटो म फसा है उसको ऊपर उठने का एक यही माग है कि वह इस उलटे नाम का सहारा लेकर गन शन स्थूल-जगत् से सूक्ष्म तथा कारण जगत् की ओर अग्रसर हो। राम का उलटा 'मरा अथवा 'सोऽह' का उलटा 'हसो' जपने का यही अर्थ है। सीधे नाम म शक्तिमान् से शक्ति का प्रवाह होता है परन्तु उलटे म शक्ति से शक्तिमान् की ओर जाना पड़ता है। इसलिये ब्रह्म के नाम के पहले उसकी शक्ति का नाम रम देना से भी उल्टे नाम का सिद्धांत मिट्ट हो जाता है। अतः सीताराम, राधाकृष्ण, पावती परमेश्वर आदि का भी जप किया जा सकता है। परन्तु जप म नाम का उच्चारण मात्र पर्याप्त नहीं, नामोच्चारण तो केवल समय, ध्यान, समाधि द्वारा स्थूल जगत् से ऊपर उठने का सहारा मात्र है।

आदि कवि सम्बन्धी कथा की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इसम भारतीय साहित्य का देसकालगत इतिहास नहीं मिलता। इस कथा से यदि रामायणकार के विषय म हम कुछ भी पता चलता है तो यहा कि रामायण के लेखक परम योगी थे और रामायण म जो कुछ लिखा है वह एक आगरण कथामात्र नहीं है उसम उनका उच्च आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी है। बहुत सम्भव है कि रामायणकार का नाम पहले से ही वाल्मीकि रहा हो जिससे वाल्मीकि (वाँची) के रूपक म उसकी सगति बढ गई परन्तु स्थूल जगत् के आवरण को बाँची के रूपक द्वारा प्रकट करने की परिपाटी च्यवन कथा म भी मिलती है और सम्भवतः बहुत पुरानी है।

काव्य प्रेरणा—अतः आदि कवि (प्राचेतम) की इस कथा म वर्तुत काव्य की मूल प्रेरक शक्ति के यत्नीकरण का ध्यानकारिक चणन है। इस मत की पुष्टि वाल्मीकि के दूसरे नाम 'प्राचेतस से भी होती है—प्राचेतस का अर्थ है प्रचेतस का पुत्र और प्रचेतस का अर्थ जसा प्रारम्भ से ही कहा गया है अज्ञानदमय कोण के ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है, जिसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता म 'कवि पुराणा' आदि कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार यह 'प्रचेतम' अर्द्धत, वीतरागदव' अमत्य' तथा मनमगकीश के लिये वरुण्य तथा ध्येय' है जिसको देवलोग (इन्द्रियादि की शक्तियाँ) द्रुत रूप म मर्याँ (क्षणभंगुर इन्द्रियाँ) म ऐम विभक्त कर लेते हैं जस अज्ञान के भाग को और इस अवस्था में उसन लिये असुर कहकर सम्बोधित किया जाता है। जो बात वहाँ प्रचेतस के लिये

कही गई है, वही आनन्दमय ब्रह्म के लिये भी कही जा सकती है और स्थूल गरीर स्त्री पञ्च पर अमुरत्व प्रधान जीवन यतीत करते हुए वात्मीक पर भी वही लागू होती है, क्योंकि व प्राचेतस (प्रेचेतस के पुत्र) तथा ब्राह्मण (ब्रह्मकुलोद्भव) हैं। अतः प्राचेतस अथवा वात्मीक नामी आदि कवि के आरयान में यही अभिप्रेत समझना चाहिये कि आनन्दमय ब्रह्म ही मूल प्रेरक शक्ति है और वह अजर, अमर, तथा अव्यक्त होते हुए भी स्थूल गरीर की नस्वर अभिव्यक्तियों में व्यक्त होता है। जसा कि ऊपर देख चुके हैं अयत्त की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होते ही ब्रह्म भाया, शक्तिमान शक्ति कवि-वाक आदि का द्रव प्रारम्भ हो जाता है, इसीलिए 'प्रेचेतस की अभिव्यक्ति भी यहा द्रव पूण बतलाई गई है।

स्फोटवाद—मूल प्रेरक शक्ति की अभिव्यक्ति व विषय में यही मत आग चलकर स्फोटवाद के नाम से चला जिसका उपयोग काव्यशास्त्र में भी ध्वनि के प्रसंग में किया है। हमारा मुख से जा वैखरी वाणी निकलती है उसकी इकाई वाक्य है, जो अनेक तदनु रूप भाषण ध्वनियों अथवा वर्णों का आवरण धारणा करके व्यक्त होता है (वाक्यपदीय ७१ ७३ व्या० म० वृ० २= ४५)। वाक्य की उत्पत्ति अततो गत्वा स्फाटात्मा स हाती है जो ध्वनि द्वारा व्यक्त होता है और नित्य तथा अनेक 'वाचक' (ध्वनिव्यग्य नित्य अत्रय) है। यथाथ में स्फोट एक और अद्रव है परंतु उपाधि (जिसको नाद, ध्वनि या आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अथवा वाक कहते हैं) के प्रभाव से अनेक भाषण ध्वनियों के रूप में व्यक्त होना प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में अनेकता तो व्यावृत्ता ध्वनि में है न कि स्फोटात्मा में। आत्मा में नाद की उत्पत्ति होती है, जिसे व्यावृत्ता ध्वनि या केवल ध्वनि कहते हैं जो बुद्धि, प्राण आदि में हाती हुई स्थूल अणु द्वारा व्यक्त होती है —

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।

विवृतमाना स्यानेषु सया भेद प्रकाशते ॥ (वा० प० १ ११७)
वास्तविक विकार इसी नाद या वाक में होता है और इसी से आवृत्त होना पर अविकारी स्फोटात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। अतः सूत संहिता स्फाटात्मा

१ यदन्त शब्दत्वं तु नात्रैक प्रकाशितम् । यत्पुनरपर शब्द तन्मयास्य तथैकता ॥

२ स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपादिन । अद्रव्योपाधिभेदेन वृत्तित्वे प्रवचते ॥

(वा० प० १ ७७,

३ शब्दस्योऽनभिन्नस्यैव सत्त्वे तु वैकल्या । ध्वनय समुपाहृत स्फोटात्मा तैर्नामयत् ॥

(वा० प० १ २०)

४ स्वभावभेदान्नित्य के उल्लेखानुपादिन । प्राकृतस्य ध्वने कल शब्दस्यत्युपपद्यते ॥

को प्रणव या घोकार व गाम म दो प्रकार का बतलाती है—एक पर मा वृह्य रूप दूसरा अपर या गच्छ रूप^१ । गच्छ रूप स्फोट या प्रणव ही नाद या वाक से युक्त होता है और इच्छा, जान प्रिया जो दृष्टि म विविध रूप म व्यक्त होता हुआ नाना वर्णों का सृष्टि करता है —

शृणोति य इम स्फोट सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदुक् ।
 येन वाग व्यज्यने यस्य व्यक्तिराकाश आत्मन ॥
 स्वधाम्नो बाह्येण साक्षाद्वाचक परमात्मन ।
 स सवमभ्रोपनिषद् वेदब्रोज सनातनम् ॥
 तस्य ह्यासन् प्रयोवर्णा अकाराद्याभृणद्धह ।
 धायते यस्यप्रयो गुणानामयवृत्तय ।
 ततोऽक्षरसमाभ्यामसृजद्भृगवानज ।
 अतस्त्रयोऽमात्वरस्पशदीघ ह्रस्वादि लक्षणम् ॥

नाद, अनाहतनाद तथा महानाद—गवागम व अनुमार सच्चिदानन्द शिव स शक्ति शक्ति स कारणनाद तथा नाद म त्रिदु उत्पन्न होता है (आसीच्छक्ति-स्तनो नादो नादाद्विदु ममुद्भव) यहाँ पर नाद का 'महानाद कहा जाता है और अष्टप्रकरण व अनुमार विदु को अनाहतनाद कहा जाता है (विदुरेव समाख्यातो व्योमनाहतमित्यपि) । इसी अनाहत नाद या विदु से 'वायनाद पदा होता है (भिरमानात्पराद्विदारव्यक्तात्मा रवाऽभवत्) जो नाग वर्णों म गद्य-पद्यात्मक रूप म प्रकट हा जाता है (वणात्माविभवति गद्यपद्यादिभेदत) ।

कुछ धवापमो म ष्ठी बात को दूसरे रूप से कहा गया है । उनके अनुसार शिव के साथ उसकी शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है इस शक्ति का नाम जान शक्ति है जो सारी अभिव्यक्ति का निमित्त कारण है शिव शक्ति व मयुक्त तत्त्व म परिग्रह शक्ति का नाम ज्ञाना है जिसका नाम प्रिया शक्ति भी है । वही विदु है जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है । यह शुद्ध और अशुद्ध भेद स दो प्रकार का है शुद्ध विदु को महामाया तथा अशुद्ध विदु को माया भी कहते हैं । शक्ति तथा त्रिदु व सम्बन्ध का विकल्प अथवा भेद नाग कहते हैं ।

१ गान्धर्व ब्रह्मसूत्रानुसारेण पूर्वो नपार १ म ।
 अत्रम ब्रह्मरूपणभेदवानिब्रह्मणे ॥
 पर परतः ब्रह्मज्ञाना त्पिलक्षणम् ॥
 प्रकषेण प्रणव यस्मात् ५ तदा रवमावत् १
 अपर प्रणव साक्षाद्ब्रह्मस्य मुनिना १
 प्रकषेण नववयं ह्युत्तमप्रणव मृत ॥

इसी विकल्प द्वारा शिव गुद्ध विन्दु को क्षुब्ध करता है जिससे शब्द तथा अर्थ की द्वैत धारा चल पड़ती है, जो परा, पश्यती मध्यमा तथा वैचरी अवस्थाओं में होकर नाना रूपा में प्रकट होती है। इसी प्रकार अगुद्ध विन्दु का धाम से भी अभिव्यक्ति होती है।

प्ररणा का उदगम—अतः भारतीय परम्परा के अनुसार 'गदार्थात्मक' या गद्यपद्यार्थक काव्य अथवा सभी प्रकार के काव्य (कला) कर्मों की भाँति, आत्मा की अभिव्यक्ति है, जिसको वह अपनी शक्ति या ध्वनि द्वारा अव्यक्त में यत्न भूद्ध में स्थूल, प्रकृत से व्याकृत तथा एकवर्णा से अनेक वर्णा करता है। उस शक्ति या माया का धर्म ही यह है कि वह अभिव्यञ्जना करे आत्मा को अद्वैत से अनेक रूप प्रकट करे।

आत्माभिव्यक्ति में बाह्य विभावा का भी प्रमुख स्थान है। बाह्य विभाव जब हमारी इन्द्रियों द्वारा हमारे अंतजगत् पर प्रभाव डालता है, तो हमारे भीतर तदनु रूप संचारी तथा स्थायी भाव उत्पन्न होकर तीव्र होते हुए रसत्व को प्राप्त करते हैं जिसमें मोत प्रीत होकर हम व्याकुल हो उठते हैं, भवभूति ने रामचंद्र जी की ऐसी ही अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

अनिभिन्नो गभीरत्वाद्दत्तपूढघनध्यय ।

पुटपाकप्रतीकागो रामस्य बहणो रस ॥

इस व्याकुलता को दूर किये बिना चत नहीं मिल सकता, और इसको दूर करने का एकमात्र उपाय है अभिव्यक्ति—जगलव भर हुए तालाब की एक मात्र प्रतिश्रिया है उमम न जल निशान्त—पुरोत्पीठ तटावस्य पारीवाह प्रतिश्रिया । इस 'प्रतिश्रिया' के बिना अतर्लीन भावोद्रेक में हम राम की भाँति व्यथित होत हैं और माह में पड रहने हैं—

अतर्लीनस्य बुध्वाग्नेरद्योद्दाम ज्वलिष्यत ।

उत्पीठ इव घूमस्य मोह प्राणावृणोति माम् ॥

अतः बाह्य विभावों में विभावित यह भाव आत्मा की 'शक्ति' के द्वारा व्यक्त होता है क्योंकि इसी शक्ति में स्थिर ममाधिस्य चित्त में अभिधेय भाव का स्फुरण होता है और उसको व्यक्त करने के लिए पद आदि विभावित होते हैं—

मनासि सदा मुसमाधिति विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।

अबिलप्टानि पदानि च विभाति यस्यामसौ शक्ति ॥

इसीलिये मम्मट ने काव्य प्रवाण^१ में काव्य के कारणों में शक्ति को प्रमुख

१ शक्तिभिपुणतालोकराप्रकाश्यापवेष्टणात् ।

काव्य शिवाभ्याम शक्ति हेतुस्तद्भव ॥

स्थान दिया गया है। यहाँ, यह बात नहीं भूतनी चाहिये कि जसा ऊपर कहा जा चुका है, यह शक्ति ही नाद बिन्दु आदि अवस्थामो में होती हुई शब्द तथा प्रथम दोना का कारण है, इसी में प्रौढ-वध वाल्मीकि में वह 'अथ उत्पन्न करता है जो काम की आत्मा है और इसी से उस आत्मा को आवृत्त करने वाला माना वर्णात्मक कलवर भी उत्पन्न होता है, गोक तथा दशोक दोनों का कारण एक ही है ध्वन्यालोक में अतः कहा गया है कि—

काव्यस्यात्मा स एवायस्तथाचादिकवे पुरा ।

प्राचद्ब्रह्मिषो गत्य गोक श्लोकत्वमागता ॥

परन्तु काव्य एक अरण्यादान नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिस श्राता की अपेक्षा है इसमें ऐसी ध्वनि है जो प्रतिध्वनि प्राप्ति के लिये उपयुक्त स्थल चाहती है। चाहे कवि स्वान सुखाय ही क्यों न लिखे उसमें वह सामर्थ्य तथा उद्दृश्य निहित रहना है जिसमें कवि का प्रेरक भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उसी भाव का उत्पन्न कर देता है। श्री कृष्ण स्वामी गार्गी ने वाल्मीकि की कविता के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं —

वालकाण्ड के द्वितीय सर्ग में उल्लिखित गोक और श्लोक के समीकरण तथा १२-१८ में अपनी कविता के विषय में स्वयं वाल्मीकि द्वारा व्यक्त विचार द्वारा निस्सन्देह यही ध्वनित होता है कि सच्ची कविता गदी नहीं जानी, अपितु वह रस के उस से प्रसूत एक सुन्दर एवं नसगिक अभिव्यक्ति होती है और सच्ची कविता का जीवन तथा विकास कलाकार तथा कला-समीक्षक, कवि तथा सहृदय चमत्कार एक प्रभाव के सरस मश्लेपण पर निर्भर करता है।

अतः काव्य प्रेरणा के उत्पन्न में जहाँ आंतरिक 'शक्ति तथा बाह्य विभाव सहायक होते हैं, वहाँ श्रोता-सापेक्षता भी उसका एक अंग है। श्रोता सापेक्षता को ही समाज-सापेक्षता भी कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत समालोचक भी स्वतः ही आ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो रस किसी बाह्य विभाव के द्वारा कवि के अन्तर्जगत् में विभावित होता है वह काव्य के रूप में अभिव्यक्त होकर पुनः विभाव बाहर सहृदय के भीतर उसी प्रकार के रस को विभावित करता है जिस प्रकार के रस का विभावन कवि के हृदय में काव्य सृष्टि से पूर्व हुआ था। इसलिए जहाँ तक रसानुभूति का सम्बन्ध है, कवि और सहृदय दोनों का वह सुनभ है, परन्तु दोनों के माध्यम पृथक-पृथक हैं—कवि का माध्यम वह विभाव है जिससे प्रेरित होकर उसने काव्यसृष्टि की, जबकि सहृदय का माध्यम कवि का काव्य है जो उसके लिए विभाव बनकर आता है। अस्तु इसमें कोई

मन्त्रेह नहीं कि रस की निष्पत्ति चेतन अतजगत् की वस्तु है, चाहे वह अतजगत रवि का हो या सहृदय का और इस रस निष्पत्ति में बाह्य विभाव का भी महत्वपूर्ण योग है चाहे वह किसी व्यक्ति वस्तु या दृश्य के रूप में ही अथवा किसी वाक्य (कला) के रूप में ।

बाह्य अपेक्षा का रहस्य—अस्तु प्रश्न यह है कि यह बाह्य तत्वों की अपेक्षा क्यों ? विभावों से हम क्यों आकर्षित होते हैं और हमारी अभिव्यक्ति समाज सापेक्ष क्यों है ? सम्भवतः इसी प्रश्न के सदम में पंडितराज जगन्नाथ नरपति 'रसमगाधर' में रस और रमणीयता को पृथक् पृथक् माना तथा भरत मुनि ने एक ओर 'सुखदुःखसम्बन्धित' स्वभाव' को स्वीकार किया तो दूसरी ओर वस्तु सम्बन्धित रस' का भी । परंतु इस प्रसंग में प्रायः यह भुला दिया जाता है कि 'रसमगाधर' में रस और रमणीयता में भेद करते हुए भी रमणीयता को लोकोत्तराह्लादजनकगोचरता कहा है और नाट्यशास्त्र ने रसनिष्पत्ति के प्रसंग में प्रेक्षकों की 'देवी' सिद्धि का भी प्रतिपादन किया है । बाह्यतत्त्व की अपेक्षा का अभिप्राय यह नहीं कि रस की स्थिति बाह्य तत्वों में है । वेदों के अनुसार रस अपेक्षा का रहस्य पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड की तात्त्विक रचना में निहित है । पिण्डाण्ड के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी वही पाँच कोण हैं और वहाँ भी 'विज्ञानमय' जगत् के सूक्ष्म अन्वयित्व से स्थूल जगत् के स्थूलत्व तथा अनेकत्व का विकास हुआ है । यह कहा जा चुका है कि ज्यो-ज्यो स्थूलता (माया) का आवरण बढ़ता जाता है, त्या-त्या 'रस स्वरूप आत्मा परोक्ष होता जाता है और उमका रस मायाशबलित होकर सुखदुःखादि अनेक रूपों में प्रकट होता है । माय ही माया इस पराक्ष आत्मा के रस की शब्दरूपरसगन्धस्पर्शात्मक जगत् के रूप में व्यक्त करके उमको भोगने के लिए श्रोत्रचक्षुरसनाघ्राणत्वगात्मक ऐन्द्रिय जगत् का निर्माण करता है । इन दोनों जगतों से एक में चाह है दूसरे में आकर्षण एक में काम है दूसरे में रति की सामग्री एक में इच्छा है दूसरे में पूति । इस द्वैत सिद्धांत के द्वारा जहाँ एक को अनेक करके एक पूण को अनेक अपूर्णों में विभक्त कर दिया जाता है वहाँ इन अपूर्णों के भीतर अपन से बाहर पूणता खोजने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है । इसका फलस्वरूप एक ओर हम बाह्य जगत् के जड विभावों से आकर्षित और प्रभावित होते हैं

१ ना० शा० १ १२२

२ ना० शा० ७ १८३

३ देखिये डा० सु० ना० दा० गुप्त कृत 'सौन्दर्यतत्त्व' अध्याय १ और डा० मनोहर कान्हे भूमिका, डा० बरलिंगे कृत 'सौन्दर्यतत्त्व और काव्य सिद्धान्त' ।

तो दूसरी ओर विश्व के चेतन अतजगत के साथ उस धारण तथा प्रभाव का आस्वादन भी करना चाहते हैं। अतएव कवि जड-चेतन के शब्द, रूप, रस गंध, स्पर्श से प्रभावित होकर जहाँ बाह्य-जगत् में खोई हुई पूर्णता देखता है वहाँ उससे विभावित भाव या रस की अभिव्यक्ति करके संहृदय प्राणियाँ के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूर्णत्व लाभ करना भी चाहता है। अतः किन्हीं अंगों में अडलर का यह कहना ठीक है कि कवितादि मारी कलायें अपूर्ण मनुष्य के पूर्ण होने के प्रयास की स्रोतक हैं।



आनन्द और सौन्दर्य

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'सौन्दर्य के स्वरूप तथा उसके लक्षण के सम्बन्ध में हमारे देश में अभी तक कोई विचार ही नहीं हुआ।' डा० भुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'सौन्दर्यतत्त्व' के प्रारम्भ में लिखा है कि— पण्डितराज जगन्नाथ ने अवश्य ही रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य की सजा दी थी, किन्तु वह भी रमणीयता के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई गम्भीर विचार प्रस्तुत न कर सका। वस्तुतः स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है स्वयं लक्षणग्रन्थों में प्रयुक्त गणनावली सन्तत करती है कि उनके पीछे एक उज्वकोटि की सौन्दर्यशास्त्रीय परम्परा रही है। उदाहरण के लिये पण्डितराज की 'रमणीयता की ही से लीजिये जिन उद्देश्यों लोकोत्तराह्लादजनकपान गोचरता कहा है—दूसरे गणना में आनन्दजनकपान की गोचरता ही रमणीयता है। इस परिभाषा के तीन तत्त्व आनन्द, पान और गो हैं जिनमें से प्रथम दो को हम अन्न साप एव इन्द्र के वैदिक प्रतीकों में देख चुके हैं और तृतीय (गोतत्त्व), जो वैदिक वाङ्मय में गोम तथा इन्द्र से निकटतम सम्बन्ध रखता है छानवीन करण पर सौन्दर्यानुभूति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग टहरता है।

वैदिक गोतत्त्व और गोचरता—महर्षि अरविन्द^१ के गणना में वृत्त के समस्त प्रतीका में गो की कल्पना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कमलाण्डी के नियमों केवल हाड मान की बनी भौतिक गाय है, और इनके अतिरिक्त कुछ भी

१ डा० आनन्दप्रकाश पीछित इल अनुक

२ आनन्दवेत्, पृ० १४०

नहीं वेद म गो का सम्बन्ध निम्नतर उपा और मूय से है और इसका सम्बन्ध उस आरूपान म भी है जिसम इन्द्र या बहुस्पति यरमा या अगिरस की मनायता म अपहृत गाया को पणियो की गुफा स मुक्त करत है उपा सूता की साधारण परीक्षा स भी यह बात पूणतया स्पष्ट हो जाती है कि उपा तथा मूय की गाये प्रकाश की प्रतीक मान्न हैं , स्वय सायण को भी इन प्रसगा म गो शब्द का अर्थ कर्मा गाय' और कभी 'रश्मि' भी करना पडा है ।

वस्तुत यह स्पष्ट है कि हम गा' शब्द का वास्तविक अर्थ प्रकाश और आलंकारिक एव स्थल अर्थ गाय' करना है ।" अनेक स्थलो पर ऋग्वेद मे स्पष्ट संकेत हैं कि कृत्वि गाये वस्तुत प्रकाश रश्मियाँ हैं— गाया के भड के समान उपा की रश्मियो (४५२५) अथवा अघकार को हटाकर ज्याति जानवाली गायो (७७६२) का उल्लेख निश्चिन रूप स यतलाता है कि जिन गाये को उपा अघ देवा क साथ बल अमुर क दृढ स्थानो को तोडकर बाहर निकालती है (७७५७) अथवा जिन अरुण गाया को वह अपने रथ म जोरती है (१,१२४११) या जिन गायो को वह जनित्री (११२४५) नत्री (७७६६) तथा दात्री (५७६८) कही जाती है वे उसी ज्योति की किरणें ह जिसकी सृष्टि क द्वारा उपा अघकार को गायो के बाडे के समान खोलती हुई (१६२४) कही जाती है ।

अत जब उपा को गोमती उनके रथ को गोमन हिरण्यवत् अथवा प्रथम उपा को यम की गाय कहा जाता है तो स्पष्टत गो का अभिप्राय ज्योति से होता है और यह ज्योति अततोपत्वा कही आध्यात्मिक गूढज्योति है जिसे मयमन्वा पिनरा ने पाकर उपा को जन्म दिया (७७६४) । यही वह चिद्रूपिणी गौरी (गोय चित्त) गाय' है जिसको वसु' बंधनमुक्त करते हैं । असलिये काई आश्चय नहीं कि हृदय और मन क द्वारा बाह्यनीय चित्त इन्द्र का ही गाया (गाव) के साथ समीकरण किया जाये (६,२८५) और इन गायो (चिद्रश्मिया) से 'कृश चित्त को पुष्ट तथा 'अश्रीर चित्त को सुप्रतीक' बनन क लिये कहा जाय (६२८६) । अत इसम कोई स देह नहीं रह जाता कि जिस चित्त अथवा ज्ञान शक्ति का प्रतीक हमने इन्द्र को पाया उसी चित्त शक्ति को गो कहा जाता है जो विज्ञानमय कोश म एक तथा मनोमय म अग्रमय तब अनक रूपा हा कर विचरती है , यहा इन्द्र की शक्ति होने क कारण द्रिदिय भी कही जाता है, और यही कारण है कि विभिन्न अगो (चक्षु

श्राव्य आदि) में काम करने वाली इन वस्तुओं का भी 'गा' की मत्ता ली गई। अतः जब हम कहते हैं कि हम अमुक वस्तु 'गाचर' हागए ता उसका अग्निप्राय यही है कि हमारी 'गा' (चिन् या इन्द्रिय गति) चम्पु श्राव्य आदि व द्वारा उन वस्तु के अनिकष में आगई अतः 'गाचरता' का तात्पर्य चिन् गति क नाग किन्ही विषय का उपक ही हो सकता है। इसी गाचरता का सम्बन्ध मोन्दयानुभूति स है।

बदिक मु और सोदय—चिन् गति या चिन् त्रिम प्रकार हमारे व्यक्तित्व का एक अंग है उसी प्रकार 'मु' या मानसत्व भी अतः वस्तुओं में प्रायणा की जाती है कि त्रिम प्रकार होने हमारे चिन् का वचन-भूत किया उसी प्रकार व हमारे 'मु' (मु अम्मन्) पम का भी (१० १२७ ८) भूत करे क्योंकि हमारा यह 'मु' प्ररणीय (१ ६,६) र्णणीय (१ ४७ १) तथा स्वविन् मु मय है त्रिमक मकटों मुद्रर म्प (गन मुन्व) एक माय (१ १० १) प्रणा का त है। 'मु' का विरार्थ एक दु तत्व भी है अतः भय रहता है कि वही वह अतिवचनान् गन्तु निरुक्ति हमारे 'मु' (मु न) का वचन कर जान (१ २८ ६) अतिवचन प्रायणा की जाती है कि यह निरुक्ति नृगामहित (१ २८ ६) नष्ट हो जाव और हम सभी 'प्रतिष्ठो' (बुगण्यो) सभी गन्तुओं (टप) में पर 'ऊ' में अवन 'मु' का ले जावें (१० १०६ ६) अति तथा अहम उन मनुष्य का व्याप्त नहीं करता त्रिमका अयमा मित्र वग्ग एक मात्र मिनकर (१० १०६ १) गन्तुओं में पर (अतिवचन) 'ऊ' में न जात है—द्वारा ऊ ही वह मान का मत्र है जहाँ हमारा 'मु' र्णा व निय न जाना जाता है और जहाँ अहम पार करव पड़ेका जाता है (१ १०८ २) यही पट्टेकर हमारा 'मु' स्वन्ति व याव्य हो जाता है अतः प्रायणा है कि अतिवचन हमें गन्तुओं में पर (अति वचन अति वचन) 'स्वन्ति' व त्रि (१ १२८ ५) ल जावें। 'मो' को 'स्वन्ति' अन्वय स्वन्ति' (६,४७ ८) कहा जाता है। अनन्तर यहाँ पर 'मु' नवति' व 'अन्ति माग्ग मु निरपम हाकर 'स्व' (मुत्-अन्व) हाकर स्वन्ति (मुत्-अन्ति) कट्टाता है साथ ही दुरित क उपक व श्लेष मकीप अथवा आदड 'मु' अथ विन्तीग, वृन् तथा मुन होकर वर हा जान स उन न् अन्वयिग (५ १६ ११ २ २०, २), न् नाक उ लोक अथवा केवन 'ऊ' भी कना जाता है। कना-कभी माधारण 'मु' स स्वन्ति व 'मु' का निर

१ अतिवचन में न कना पणा में उ श्ला है पदना का रूप ही वर अन्वय किया गया है।

(४ ४१ १०) वहन स भी सम्भवत इच्छाशक्ति की गतिशीलता तथा नित्यता अभिप्रेत प्रतीत होती है। अथवा गायों के जिस ऊँच का सुगोपा पणियो स रक्षित 'अद्रिबुध्न निधि' कहा गया है वह गायो अश्वो, वसुधा स युक्त (१०, १०८, ७) बताई गई अतः जब देहो के पार्श्वों म बँधे हुए जीवात्मा की कल्पना की गई तो उसे पशु (पागवद्ध) कहा गया और वह भी विज्ञानमय की इच्छाशक्ति के प्रतीक के रूप म 'ओजिष्ठ अश्व पशु (८ ३४ १६) जा मूय के समान समकता है परंतु मनोमय कोण म आकर वस्तुतः आनन्दमय काण का यह द्विरूप्य पुरोही ही 'गव्य अश्व्य पशु (१० ४८ ४) हा जाता है। एक दूसरे रूपक म जब इन्द्र सक्ता गय और अश्व को बुनता है (व्यति ८ २१ १०) तो मनोमयकाश व भीतर प्राप्त इच्छा और ज्ञान शक्तियो का ही ताना-बाना अभिप्रेत प्रतीत होता है।

वीरतत्त्व का मिश्रण—गव्य और अश्व्य तत्त्वों के साथ इन्द्र-वायु व मूवती म एक वीर' तत्त्व के मिश्रण का भी उल्लेख मिलता है। इन्द्रवायु व पानाय शक्तिो द्वारा आहूत मधु के अश्रिय सोम (७ ६२ २) को भी सम्भवत सुभोग्य रयि की शक्त वन हुए, उस और एक ऐसे राधम का मिश्रित करण की प्राथना की गई है जो वीर गव्य अश्व्य' (७ ६२ ३) है। शक्तिों द्वारा आहूत अश्रिय सोम रूपी रयि व माय उक्त तीन तत्त्वो का मिश्रण उा देवी प्रमति म भी देया जा सकता है जो 'वीर इन्द्र' व 'गो' और विद्यमान वसु (१, ५३ ३) है और जिसको वीरगुप्ता गो अश्व तथा अश्ववती (१ ५३ ५) कहा जाता है। इन तीना तत्त्वो म प्रमति का योत त्व होता है जब पहले हम दीप्तिमान इन्द्रुओं के द्वारा सुमना हा जाय, गायो और अश्व (गाभि अश्विना) के द्वारा 'अमति का निरोध करत इन्द्र और इन्द्रुओं के द्वारा दम्पु का विदारण करत और सशुहीन होकर एक प्रक सक्त्व (इया) के साथ कार्यारम्भ करें (समिपा रभेपहि १, ५३ ४)। विप्र धियो (धाभि) के द्वारा 'स प्रमति की इच्छा करत है (७ ६३ ३) परंतु जो विप्र इस प्रमति का चाहता है उस पहले एक एमी पूर्वभाज रयि व लिय प्राथना (७ ६३ ४) करनी पती है जिसकी तुलना उषयुक्त अश्रिय साम नामक सुभोग्य रयि म कर सकते हैं। यही ऊ सु नामक साममुति है जिसके द्वारा दद्राग्नी हम सोमनस्य दकर सुमना बनाने, हमारे चारों ओर चित् (पान) शक्ति का परिनिर्माण करत है और हम दद्राग्नी के शाश्वत बला (शाश्वद्भि वाज) स प्राप्त (७ ६३ ६) हा जात है। वीर, अश्व और गो से युक्त विज्ञानमयकोश की अश्रिय सोम ऊ सु मुति, सुभाय्य रयि अथवा उक्त प्रमति

की भाँति अयत्र रत्न (७ ७५ ८), वाज (८ ६ १८) तथा इप (९ ४० ६) का भी गामत वीरवत तथा अश्ववत कहा गया है। अतः प्रश्न होता है कि इच्छा (अश्व) और ज्ञान (गो) व साथ मिश्रित होने वाला यह वीरतत्त्व क्या है ?

वीरतत्त्व और क्रियाशक्ति—इस वीरतत्त्व को स्पष्ट रूप से वाजभर कमनिष्ठ श्रुत्य (वाजभर वीर श्रुत्य कमनिष्ठ १० ८० १) कमण्य वीर (१ ९१ २०), 'वीर कमण्य मुदक्ष' (३, ४ ९४ ७, २ ९) कहा जाता है। यद्यपि यह कमण्य या कमनिष्ठ वीरतत्त्व मूलतः अग्नि की क्रियाशक्ति का प्रतीक है परन्तु रमणशील त्वष्टा के तुरत व्याप्त होने वाले पोषक तत्त्व के सम्पर्क से ही वह 'कमण्यमुदक्ष (३, ४ ९, ७ २ ८) होता है। रमणशील त्वष्टा के तुरत व्याप्त होने वाले पापक तत्त्व को अश्व माना जा सकता है, क्योंकि अश्व का अय ही तुरत व्याप्त होने वाला है और, जसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह है भी रमणशील सोम की इच्छाशक्ति का प्रतीक। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि अग्नि केवल वीर या वीरवत अथवा अधिक-स अधिक कमनिष्ठ श्रुत्य को देने वाला है तो सोम को गो एव अश्व व साथ साथ 'वीर कमण्य को देने वाला (१ ९१ २०) कहा गया है। वस्तुतः विज्ञानमय की 'सोमसुति (अश्व), मनोमय इन्द्राग्नी की 'इन्द्र श्रुत्य' (ज्ञानशक्ति रूपी गो) तथा कमनिष्ठ श्रुत्य (वीर) इन तीनों के सग्रहण से ही यज्ञ कम का समारम्भ सम्भव है। अतः ऋ० १, ५३ में यज्ञ कम के समारम्भ के लिए आवश्यक कर्मपणा (इषा) और प्रमति को क्रियाबल (वीर) ज्ञानबल तथा भावनाबल (अश्व) संयुक्त करने व लिए (४ ५) 'गचीयुक्त इन्द्र स एक रत्न या वसु का सग्रहण (३) करना होता है, और यह रत्न या वसु है एक प्रकार का चित' अथवा ज्ञानशक्ति जो इन्द्र को ही सुगम है (१) क्योंकि उक्त अश्व, गो एव वसु का सम्बन्ध इन्द्र (२) से ही है।

ध्वन (मिश्रण) और वायु—वीरगव्य अश्व राघस की जिम मिश्रण क्रिया का उत्पन्न किया गया है उसके लिये मिश्रणाथक 'यु धातु का प्रयोग हाता है (८ ९२ ३) और उसका कर्ता वायु एव उसके तथाकथित घोड़े (नियुद्धि) भी यु धातु से सम्बन्ध रखने प्रतीत होता है (७, ९० ३ ५) इन्द्रवायु का संयुक्त रूप भा नियुवाना नियुत सं सम्बन्धित है और उह 'स्पाह्वीरा' (७, ९१ ५) कहा गया है। उक्त मिश्रण की पूणता प्राणमय स्तर पर प्रतीत हाती है, इसीलिये मनोमय (द्यु) तथा अन्नमय (पृथिवी) दाना व इस प्रसारण स्वरूप प्राणमय को आयु' (चारों ओर से मिश्रणशील) सना देकर

ज्ञान (मनोपा) शक्ति के माध्यम प्रवाहित होने के लिए जिम तन्तुजाल का माध्यम लेता है वह हमारे शरीर में तन्तुओं उपतन्तुओं प्रतन्तुओं आदि के सूक्ष्म म-सूक्ष्म भागों में विभक्त है। ऋग्वेद में इसीलिये सोम को विततमाय्य यन् (८ ६८, ११) कहा गया है जिसकी तुलना उस यन् से की जा सकती है जो एक सौ दक्कनों द्वारा वितत (१० १३०) वतलाया गया है। साधारणतया य मनोमय इन्द्र के नानन्द्रिय और कर्मन्द्रिय रूप में दो ही अर्थ है, परन्तु (८ ६८ १५) मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय कोणों के भेद से छ अर्थ (८ ६८ १७) हो जाते हैं जिनमें प्रत्येक के साथ सोमरूपी बंधु हो जाना संभवे बंधुमान कहे जाते हैं (६ ६८ १७), और इस प्रकार यह छ जोड़े (पट्टाट्टा) सोम के बंधु रहने हो जाते हैं जो हृष्यमय (हृष्या) तथा स्वादुरातिमय (स्वादुरातय) है (८ ६८, १४) एवं जिनकी दूसरी दृष्टि से सुन्दर रूप वाले तथा सुन्दर रसिष्यो वाले (सुपशस सुधमीगून्) अश्वो (८, ६८, १६) के रूप में कल्पना की गई है। इस तन्तुजाल में विभक्त सौन्दर्यत्व सोम सु कहलाता है जो विज्ञानमय कोण में सूय (सु+ऊय) हा जाता है इन्द्र की सहायता से हम इस सूय में महत् धन (महानन्द) प्राप्त करते हैं (८ ६८, ६) क्योंकि इसी सोम के संयोग से इन्द्र को मत्री और प्रणीति (८ ६८ १०) सभी स्वादु है और इसी सु+ऊय (सूय) सोम का अन्नमय कोण की उज्योति में परिणत करना ही लक्ष्य होने के कारण, यही प्राथना रहती है कि हमारे प्रत्येक तन्तु (तन्वे) प्रतन्तु (तने) के लिये तथा निवास (क्षयाम) और जीवन के निमित्त हम उर करो हम उर प्रदान करो (८ ६८ १२) हम अपने प्राणों (नम्य) के लिये अपनी नानशक्ति (गव) के लिये तथा जीवन रथ के लिये उर पथ देवमाग का मनन करें (८ ६८ १३)।

अतः ज्ञान-तन्तुओं और क्रिया-तन्तुओं के उक्त विस्तृतजाल के द्वारा ही अन्नमय कोण की उर ज्योति या परमानन्द के धर्मरूप विन्दु (इन्द्र) मनोमय से लेकर अन्नमय तक हमारे व्यक्तित्व के सूक्ष्म और स्थूल स्तरों पर निरन्तर विस्तरे हुए सुन्दरत्व को प्रवाहित करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इसके विरुद्ध पणि अथवा वध का अनुभव उमके प्रवाह का भीण सकीण एवं अवरुद्ध करने के लिये अपनी अमुरमाया के अनेक आवरण डालकर जीवात्मा को पुरुषाय्य (८ ६८ १०) बद्ध (८, ६७ १४, १८) निष्चेष्ट (८ ६७ १२) कर देता है, अतः नानशक्ति के चिन् रूप द्वारा पुरुषाय्य की रक्षा करने, बद्ध

का बंधन से मुक्त करन निष्चेष्ट की गति प्रसार एवं जीवन दन के लिए प्राथना की जाती है। यदि यह प्राथना न सुनी गई तो सु-तत्त्व का मक्या हनन ही मकता है अत आदित्या से आग्रह है कि वह इस हत्या से पूर्व (पुरा ह्यात्) ही हमारी महायता करें (८, ६७ ५), इन्द्र म विनय है कि वह क्रतु द्वारा पणिया का अभिभूत (८ ६६ १०) करके अमति युधा अभिगस्ति (८, ६६ १४) आदि के ध्वंसक तत्त्व (८ ६६ १५) का निवारण करें परन्तु 'म ध्वमक तत्त्व का निवारण नाम के मवन से ही सम्भव है जिसकी प्राप्ति एक विचित्र धी (चित्रया धिया) के द्वारा ही (८ ६६ १४) हा सकती है। यह धी सम्भवत वही 'अरुपी कगावती प्रजा है जो इन्द्र के उपयुक्त अश्वों के भीतर मय्यक रूप में मवत्र चिन् (आचेतत्) प्रवाग करती है (८ ६८ १८) और जिसको अयत्र धिय प्रत्नाम् अमृतम्य पिप्युपीम् (८ ६५ ५) धिय घताची (१२७) अथवा सु पूव्यां धिय मघोष तस्य पिप्युपीम् (८ ६४३) कहा गया है। जसा कि पहले कहा जा चुका है इस धी से सर्वाघत यह अमृत घत या मधु घत वही सोम रूपी घत है जिसकी मधुमान ऊर्मि विनानमय रूपी समुद्र से प्रादुभूत (४५८ १) होती है विनानमय कोश में ही सु सूर्य हा जाता है अत विनानमय से उदभूत यह धी या गति ही विनानमय में वृद्धि प्राप्त (पञ्चयवृद्ध) सोम को लानेवाली सूर्य-दुहिता (६ ११३ ३) अथवा सोम द्वारा सवप्रथम प्राप्त की जानवाली सूर्या (१० ८५, ४०) है यह सूर्या या सूर्यदुहिता निस्मह धी है क्योंकि वह मनोमय रथ (अनो मनस्मय) पर चढ़कर चलती है जिसके श्रोत्र रूपी पहिए तथा व्यानप्राणरूपी धुरी है (१० ८५, ११ १२)। सोम इसी धी रूपी सूर्या का वधुयु (१०, ८५ ६) है, इसीलिए उमके अत ही सोम का अभिषेकण और संपूण ध्वमक तत्त्व के स्वयं पलायन करन की आगा' बलवनी हा जाती है। यह स्वाभाविक है क्योंकि उमम नान (गो) इच्छा (अश्व) और क्रिया (बाज) गक्तिया के धीज हाने से उक्त धी तीनों की दात्री (६ ४७ १०) और उपयुक्त तत्तुजाल के प्राणरूपी गूर नरो द्वारा वृत्रहत्या करवाकर संपूण आमुरी माया (विन्वा अदवी माया) को समाप्त करानेवाली प्रगस्ता धी (७ १ १०) है। विनानमय के ऊ की गक्ति होने से इसी 'गुक्त्वणा धी (१ १४४, १) को उमा हैमवती कहा जा सकता है जिसके द्वारा वन उपनिषत् में ब्रह्म रूपी यक्ष के विषय में पता चलना है यही आगमा की परागति तथा त्रिपुरसूत्री देवी है जो त्रिपुर के समस्त अमुरा का विनाग करने में ममथ होती है।

१. सामा इदं सुतो अग्नं कल्पयो मा विधीतन ।

अपदय ध्वरमायनि स्वयं देवो अपथात् (८, ६६, १५)

सुद और उपसुद—सूर्यारूपा उत्त धी मनामय (सूक्ष्मदेह) में आकर उमर तीन क्षत्रा में विभक्त हो जाती है। ये क्षत्र क्रम में सोम, गन्धर्व और अग्नि है जो १०, २५, ४० में सूर्या के क्रम में तीन पति कहे गये हैं। इनका सूक्ष्म मन के क्रम में आनन्दमय, वासनामय तथा मयुमय क्षत्र कह सकते हैं। पहले में मरुत्गण इन्द्र की नानाशक्ति (मम) की प्रधानता है, दूसरे में वसुगण विश्वा वसु की वासना या इच्छाशक्ति की और तीसरे में रुद्रगण अग्नि की मयुमय त्रियाशक्ति की। स्थूलदेह में यही तीनों स्थूल मन के क्रमशः भाव काम और क्रम का रूप धारण कर लेते हैं और वे सूर्या के मनुष्यजा पति (१० = २५०) कहलाते हैं। मन अपने उत्त सूक्ष्म और स्थूल रूपों में उसी सोमवाहिनी सूर्यारूपों की भावना कामना और त्रिया के रूप में विभक्त करके उसके द्वारा बाह्य जगत् के साथ हमारे आत्मा का संबंध स्थापित करता है। बाह्यजगत् के रूप आदि हमारी नानेन्द्रियों के द्वारा हमारे स्थूल मन में किसी त्रिया का जन्म देते हैं जिसके फलस्वरूप हमारे सूक्ष्म मन में कोई प्रियभावना उदबुद्ध होकर किसी आह्लादजनक नान की घोषणा करती है तथा कामना और क्रिया के साथ लेकर अनेक प्रकार के अनुभावों में व्यक्त होती है। यह आह्लादजनक नान जिस रूप आदि के सदृश में गाँवर होता है उसी को हम सुद कहते हैं और जो धी यह सब व्यापार करती है उसे विश्वपेशसम् धिय (१६११६) या वाजपेशसम् धियम् (२२४६) कहा जाता है। इसी धी के अधोमुखी रूप द्वारा हमारा सूक्ष्म और स्थूल मन वहिमुखी नानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आकर सु ऊम् (सुम्) की अनुभूति उत्पन्न करते हैं। इसी लिए पुराणा में इह क्रमशः सुद और उपसुद कहा जाता है। इस अधोमुखी या वहिमुखी धी को देवी (३१८३) या प्रशस्ता धी (७११०) बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि यह ऊवमुखी (ऊवा गधिपेशसम् धियम्, १४८१) हाकर मनोमय से ऊपर उत्तर युग में भी जाय उत्तरायण भी हो परन्तु उक्त सुद और उपसुद असुनीति से प्रभावित हाकर ऊपर की देवीति (उत्तरायण भाग) को बदलकर असुरत्व का साम्राज्य स्थापित करते हैं। इन दोनों के लिए तिलात्तमा का अवतार आवश्यक है। तिलोत्तमा यही ऊवमुखी धी है जिसे ऊर्ध्वा गुचिपेशसम् कहा जाता है (१४४१), और जो धी की तिलाकार पुतली का दोनों भौंघ्रा के बीच ऊवमुखी (उत्तमा) करके ध्यान धारणा समाधि द्वारा ही प्राप्त होने के कारण तिलोत्तमा कहलाती है। इस तिलात्तमा के अवतरण से उक्त सुद और उपसुद नष्ट हो जाते हैं और उनके साथ असुनीति पर आधित असुरों का अधिव साम्राज्य

समाप्त जाना है और उमक स्थान पर न्वा का शिवत्व गमन करने लगना है। अतः अमुरा का अन्वी (आमुगी) माया (०११०) का समाप्त करने के लिए जीवन की इच्छा से प्रेरित होकर श्रुतवत् म प्राथना की जाती है कि लोह धारा (अममो धारा) के समान हमारी तीक्ष्ण बुद्धि का प्रेरित करा —

इन्द्र मूढ मह्य जावानुमिच्छसे

चोदय धियमयसो न धाराम (६४७,१०)

मुद, सुदर और सोदय — अस्तु/हमारा मन ही मुग्ध अनुभूति का गाना होना स मुद है और जिस वस्तु या विभाव द्वारा आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभावित होती है उम मुन्दर कहा जाता है अतः उम वस्तु या विभाव के आकर्षण का ही मोक्ष कह सकते हैं। इसीलिए मनाहारिता मनानता आदि शब्द मोदय के अर्थों में समझे जाते हैं। परन्तु प्रश्न ही सकता है कि यह आकर्षण क्या है और क्यों है? यदि हमें उत्तर में यह कहा जाय कि धुम्बक और लोह के बीच आकर्षण क्या है और क्या है? तो सम्भवन बहुत उचित नहीं होगा क्योंकि हम में प्रत्येक जानता है कि हमारा आत्मा वहिमुखी इन्द्रियो (पराञ्चि खानि व्यतृणत स्वयम्भू) द्वारा बाह्य-जगत् के प्रति आकर्षित होने के लिए माना स्वभावतः उत्सुक होकर कुछ खान-पान रहा है। कोई रूप कोई गन्ध कोई रस या कोई स्पर्श उम अपने मोक्ष से पुमाता है और वह मुद होकर उम भोगन की कामना से प्रेरित होकर चेष्टा प्रारम्भ करता है सम्भवन इसलिए कि वह जिस अज्ञात वस्तु का स्वाद रहा है उमका उस उम रूप आत्मा में पान की आशा है बार-बार यह आशा निराशा में बदलती है पर कामना फिर भी बनी रहती है—कहाँ है उम कामना का वस्तु, कहा है उमका वस्तु? वद का उमका नमाधान हो गया प्रतीत होता है अतः अग्नि इन्द्र आत्मा में निश्चयात्मक ढंग में वस्तु या वस्तु प्रदान करने के लिए प्राथना की जाती है वह है वही स्ववनी ज्योतिरमय स्वस्ति — हमारा ही अपना परमानन्दमय—स्वरूप।

समाप्त होता है और उमर स्वान पर दवा का शिवत्व गमन करने लगता है। अतः अमुरा की अश्वी (आमुगी) माया (७११०) का समाप्त करने के लिए जीवन की इच्छा से प्रेरित होकर ऋग्वेद में प्रार्थना की जाती है कि लोह धारा (अयमो धारा) के समान हमारी तीक्ष्ण बुद्धि का प्रेरित करा —

इन्द्र मृष्ट मह्य जीवातुमिच्छस

सोदय धियमयसो न धाराम (६,४७,१०)

सुद, सुन्दर और सोदय — अस्तु हमारा मन ही मुझे अनुभूति का दाता होने से सुद है और जिस वस्तु या विभाव द्वारा आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभावित होती है उसे सुन्दर कहा जाता है अतः उस वस्तु या विभाव के आकर्षण को ही सोदय कह सकते हैं। इसलिए मनोहारिता मनायता आदि शब्द सोदय के पर्यायवाची समझे जाते हैं परन्तु प्रश्न ही सकता है कि यह आकर्षण क्या है और क्या है? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि 'बुद्धि और लोह के बीच आकर्षण क्या है और क्या है?' तो सम्भवन बहुत उचित नहीं होगा, क्योंकि हम में से प्रत्येक जानता है कि हमारा आत्मा वहिमुखी इन्द्रियो (परान्त्रि सानि व्यतृणन स्वयभू) द्वारा बाह्य-जगत् के प्रति आकर्षित होने के लिए माना स्वभावतः उत्सुक होकर कुछ खाज मा रहा है कोई रूप कोई गन्त कोई मद्य कोई रम या कोई स्पर्श उसे अपने सोदय से सुभाता है और वह सुद होकर उसे भोगन की कामना से प्रेरित होकर चेष्टा प्रारम्भ करता है सम्भवन इसलिए कि वह जिस अज्ञात वस्तु का खाज रहा है उसका उसे उस रूप में पान की आशा है बार-बार यह आशा निराशा में बदलती है, पर कामना फिर भी बनी रहती है—कहाँ है उस कामना का वस्य? कहाँ है उसका वसु? यद का हमका समाधान हो गया प्रतीत होता है, अतः वं अग्नि इन्द्र आदि से निश्चयात्मक ढंग में वस्य या वसु प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाती है, वह है वही स्ववती ज्यातिरभय स्वस्ति — हमारा ही अपना परमानन्दमय—स्वरूप।